वैदिक धर्म की विशेषता

श्रीपाद दामोदर सातवलेकर

विक्रम सम्वत् १९७९, सन् 1922

आर्य-निबंध-माला । ग्रंथ १०.
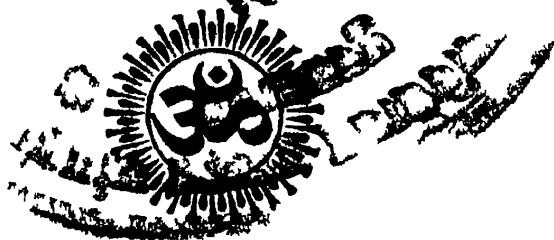
वैदिक धर्मकी विशेषता ।

[(१) वैदिक धर्मकी विशेषता, (२) सनातन धर्मका स्वरूप, (३) चार वेदोंकी सत्वरचना, (४) स्तुति प्रार्थना और उपासना, (५) आत्माका अनुभव (६) वैदिक धर्म और आजकलके विचार, (७) स्वस्ति शांति और अभय, (८) पाञ्चजन्य देवता, (९) मा वः स्तेन ईशत, (१०) देव किसको चाहते हैं?, (११) सार्वभौमिक धर्म, (१२) सत्य यश और धन (१३) मित्रताका आदर्श ।]

लेखक और प्रकाशक,

श्रीपाद दामोदर सातवळेकर.

स्वाध्याय-मंडल, औंध (जि० सातारा).

द्वितीयवार १०००

संवत् १९७९, शक १८४४, सन् १९२२.

इसका कार्यक्षेत्र।

वेदका अध्ययन जो करते हैं, और मंत्रोंके गूढ रहस्योंको जो समझ सकते हैं, उनको इस प्रकारके पुस्तकोंकी आवश्यकता नहीं है। परंतु आजकल ऐसे बहुत लोग हैं कि जो मूल वेदोंका पठन पाठन नहीं कर सकते, ऐसे जिज्ञासुओंके लिये ही यह पुस्तक है, आशा है कि यह पुस्तक अपने क्षेत्रमें कार्य करेगी।

औंध, जि० सातारा,
१ मार्गशीर्ष सं. १९७९.

श्रीपाद दामोदर सातवळेकर,
स्वाध्याय-मंडल.

प्रकाशक—श्रीपाद दामोदर सातवळेकर, (स्वाध्याय मंडलके लिये)
(औंध, जि० सातारा.)

मुद्रक—रामचंद्र येसु शेडगे, 'निर्णयसागर' छापखाना,
२३, कोलभाट गल्ली, मुंबई.

वैदिक धर्मकी विशेषता.

वैदिक धर्मकी विशेषता क्या है? ऐसा कई लोक प्रश्न पूछते हैं। 'सम-विकास' यह वैदिक धर्मकी विशेषता है। प्रचलित विभिन्न धर्मोंमें एक एक गुणका विकास करनेकी प्रेरणा है, किसीमें भक्तिभाव, किसीमें अहिंसा, किसीमें दया, किसीमें प्रेम, किसीमें विश्वास इत्यादि गुणोंका महत्व वर्णन किया है और उसी एक एक गुणका विकास मानवजातिमें करनेके लिये एक एक धर्म प्रवृत्त हुआ है। परंतु वैदिक धर्ममें सब गुणोंका विकाश करनेकी आज्ञा है। यही इसकी विशेषता है; देखिए—

ओजश्च तेजश्च सहश्च बलं च वाक्चेंद्रियं
च श्रीश्च धर्मश्च ॥ ७ ॥ ब्रह्म च क्षत्रं च
राष्ट्रं च विशश्च त्विषिश्च यशश्च वर्चश्च
द्रविणं च ॥ ८ ॥ आयुश्च रूपं च नाम च
कीर्तिश्च प्राणश्चापानश्च चक्षुश्च श्रोत्रं च ॥ ९ ॥
पयश्च रसश्चान्नं चान्नाद्यं चर्तं च सत्यं
चेष्टं च पूर्तं च प्रजा च पशवश्च ॥ १० ॥

अथर्व. १२।६।

इस मंत्रमें व्यक्तिधर्मोंका विकास और राष्ट्रीय धर्मोंका विकास कहा है। प्रथम व्यक्तिधर्मके विकासके लिये किन किन गुणोंकी आवश्यकता होती है, इसका विचार करेंगे और पश्चात् सामाजिक और राष्ट्रीय गुणधर्मोंका विचार करेंगे। इन गुणोंमें कई गुणधर्म दोनों स्थानमें समान हैं और कई समान नहीं हैं। इनका विभाग निम्न प्रकार है—

"व्यक्तिधर्मका विकास"—[शारीरिक]-शरीरके विकासके लिये निम्न बातोंकी आवश्यकता है। (१) पयः—दूध आदि, (२) रसः—रस अर्क सार आदि पेय पदार्थ, (३) अन्न— चावल दाल आदि अन्न, (४) अन्नाद्य—खान पान आदिके पदार्थ, इत्यादि पदार्थोंसे शरीरकी पुष्टि होती है।

उक्त अन्नपानादिकका इस प्रकार उपयोग करना चाहिए कि जिससे 'आयु' की वृद्धि हो सके, बहुत भोजनादि करनेसे नाना प्रकारकी व्याधियां होतीं हैं; और आयुकी क्षीणता होती है। दीर्घजीवन अवश्य प्राप्त करना चाहिए यह वेदका संदेसा है । वेदकी दृष्टिसे सौ वर्षकी आयु साधारण है । इससे अधिक आयु योगादि साधनोंद्वारा प्राप्त करनी चाहिए। जो अधम जीवन व्यतीत करता है उसकी आयु घटती है । 'प्राण अपान' आदि पंच प्राणोंके व्यवहार उत्तम प्रकारसे चलाने चाहिए जिससे आयुष्यकी वृद्धि होती है। इनके व्यवहारोंमें विघ्न नहीं उत्पन्न करना चाहिए । प्राणादिके व्यवहारोंमें विघ्न करनेसे अथवा प्राणादिकी शक्तिका बल प्राणायामादि द्वारा न बढानेसे शरीर क्षीण होता है । इसलिये प्राणोंका बल बढाना चाहिए। 'चक्षु श्रोत्र' आदि सब इंद्रियोंको भी बलवान करना चाहिए। शरीरका हर एक अवयव हृष्टपुष्ट नीरोग और सबल होना अत्यंत आवश्यक है । सब अवयवोंकी सप्रमाण उन्नति करना हर एक मनुष्यका वैयक्तिक धर्म है। यदि कोई इस वैयक्तिक धर्मका पालन न करेगा तो उसको परमेश्वरीय नियमोंसे अवश्य दंड मिलेगा।

शरीरका 'ओज' और 'बल' बढाना चाहिए। प्रत्येक स्नायुकी जो भिन्न भिन्न शक्ति है उसका नाम ओज है और अनेक स्नायुओंका मिलकर जो सामर्थ्य होता है उसको बल कहते हैं। बलमें संघशक्तिका भाव प्रधान है और ओजमें वैयक्तिक शक्तिकी प्रधानता है । शरीरमें शीत, उष्ण, कष्ट आदि सहन करनेकी 'सहन' शक्ति (सहः) भी चाहिए। अन्यथा थोडीसी सर्दीसे शीतबाधा और थोडीसी उष्णतासे उष्णता होगी तो शरीर वारंवार बीमार होगा। शीतोष्णादि द्वंद्वोंको सहन करनाही 'तप' है। इसका अभ्यास हरएक व्यक्तिको करना उचित है। जितनी शरीरमें सहन शक्ति

होगी उतना आरोग्य स्थिर रह सकता है। तपके विना सहनशक्तिकी प्राप्ति नहीं होती है। इसलिये सब मनुष्योंका इस शब्दके उपदेशकी ओर ध्यान आकर्षित होना चाहिए।

शरीर उत्तम 'रूप' से युक्त करना चाहिए। शरीरके सब अवयव उत्तम प्रकारसे हृष्टपुष्ट होंगे तोही शरीर सुंदर और सुडौल हो सकता है। कई लोक शरीरकी सुंदरताकी ओर बिलकुल ख्याल नहीं करते। परंतु यह उनकी गलती है। वेदमें 'सु-वासाः युवा' कहा है अर्थात् उत्तम वस्त्र पहिन कर शरीरकी सुंदरताका रक्षण करना चाहिए ऐसी वेदकी आज्ञा है, परंतु कई लोग अव्यवस्थित रहनेमें ही धार्मिकता समझते हैं। इतनाही नहीं परंतु जो ठीकठाक वस्त्रादि पहिनते हैं उनका निषेध करते हैं यह बडा आश्चर्य है, परंतु आश्चर्य किस बातका? आजकल ऐसी प्रथा चली है कि जो जिसके मनमें आजावे वही वैदिक धर्मके सिरपर चढाया जाता है। वेद न पढ कर मनमानी बातका उपदेश करनेसेही इस प्रकारकी अव्यवस्था मची रहती है।

शरीरका 'तेज' और मनकी (त्विषिः) दीप्ति बढानी चाहिए। Spirit शब्दका भाव इस त्विषि शब्दसे व्यक्त हो रहा है; स्फूर्ति, धार्मिक उत्साह, साहस, उल्लास आदिभाव इस शब्दसे व्यक्त होते हैं। वैदिक धर्म कहता है कि व्यक्तिमें इन गुणोंका अवश्य विकास होना चाहिए।

शरीरकी 'श्री' अर्थात् शोभा बढाना भी योग्य है। कपडोंसे तथा आभूषण आदिसे शरीरकी शोभा बढाना बाह्य साधनों पर निर्भर है; परंतु शरीरको सतेज और पुष्ट रखकर उसकी निजशोभा वृद्धिंगत करना आंतरिक स्वास्थ्यपर निर्भर है। बाह्य शोभा 'द्रविण' अर्थात् धन प्राप्त करनेसे साध्य हो सकती है। धन कोई बुरा पदार्थ नहीं है, उसका उपयोग धर्मानुकूल करनेसे उच्चता प्राप्त होती है।

'ब्रह्म' अर्थात् ज्ञान और 'क्षत्र' अर्थात् शौर्य प्राप्त करना हर एकका धर्म है। क्षत्रशब्द दूसरोंके दुःख दूर करनेका भाव व्यक्त कर रहा है, और सामाजिक, राष्ट्रिय और जनताका हित साधन करना वैदिक धर्मका एक प्रमुख अंग है ऐसा ध्वनित कर रहा है। व्यक्तिका समाजके साथ जो

धार्मिक संबंध है वह इस शब्दसे व्यक्त हो रहा है। यह 'वर्चः' है। और इसीसे 'यश, नाम और कीर्ति' होती है। हर एकको यश प्राप्त करना ही चाहिए। जनताकी सेवा करनेसे तथा उनके दुःख दूर करनेसे यश प्राप्त हो सकता है। अर्थात् सार्वजनिक हितके कर्म करनेके बिना धर्मकी परिपूर्णता नहीं हो सकती, यह उपदेश यहां स्पष्ट हो रहा है।

'वाक्' अर्थात् वक्तृत्वका कार्य यहां आता है। लोकोंका हित आदि करनेके लिये उत्तम वक्तृत्वकी कला प्राप्त करनी चाहिए। अन्यथा जन-सेवाका कार्य नहीं हो सकता। जो ज्ञान अपने पास आया होगा उसको दूसरोंके पास पहुंचाना वक्तृत्वके बिना नहीं हो सकता। मनुष्यत्वका विकास वक्तृत्वके ऊपर ही सर्वथा निर्भर है, यह ध्यानमें धर कर हरएकको वक्तृत्व प्राप्त करनेका परिश्रम करना उचित है।

अपना धार्मिक 'इष्ट' क्या है और धार्मिक आकांक्षाओंकी 'पूर्ति' किस प्रकार हो सकती है इसका विचार हरएकको करना उचित है। इस विचा-रके विना किसीकी उन्नति नहीं हो सकती।

'प्रजा' अर्थात् उत्तम संतान उत्पन्न करनी चाहिए। इसके विना अपना 'राष्ट्र' उत्तम अवस्थामें नहीं पहुंच सकता। सद्गुणी, हृष्टपुष्ट, नीरोग और सब प्रकारसे उत्तम संतान उत्पन्न करना अत्यंत आवश्यक है।

तथा गाय, घोडा आदि उपयोगी पशुओंका पालनभी अवश्य करना चाहिए। इस प्रकार उक्त मंत्रमें व्यक्तिके धर्मका वर्णन है। इसका पाठक अधिक विचार करके अधिक उपदेश जान सकते हैं।

अब 'राष्ट्रीयताका विकास' किसप्रकार हो सकता है इस प्रश्नका विचार उक्त मंत्रसेही करेंगे। सबसे प्रथम समाजके हरएक व्यक्तिमें यह भावना जागृत रहनी चाहिए कि मैं अपने राष्ट्रका अवयव हूं। मैं राष्ट्रका हूं और राष्ट्र मेरा है। इस प्रकार अभेद संबंधका ज्ञान हरएक व्यक्तिमें सदा जागृत रहना अवश्यक है।

दूसरी बात 'अन्न, अन्नाद्य, पय, रस' आदि खानपानके सब पदार्थ हरएक मनुष्यको प्राप्त होने चाहिए। जाति, रंगरूप, आकार अथवा देश-विशेषसे किसीको अधिक और किसीको कम, ऐसा पक्षपात नहीं होना

चाहिए। पशु गाय आदि उपयोगी पशुओंकी संख्या राष्ट्रमें बढानी चाहिए। यदि इनकी संख्या घटती जायगी तो दूध, घी, दही, मख्खन आदि पदार्थ मिलना असंभव हो जायगा। और राष्ट्रके लोक अशक्त होंगे। इसका निवारण करनेके लिये राष्ट्रमें गाय आदि पशुओंकी वृद्धि करना उचित है।

राष्ट्रमें दीर्घ 'आयु' वाले मनुष्य बढ़ने चाहिए। अल्प आयुमें मृत्यु नहीं होना चाहिए। राष्ट्रकी आयुभी बढानेका प्रयत्न होना चाहिए। अपनी राष्ट्रीयताके संरक्षण और संवर्धनसे राष्ट्रीय आयु बढ सकती है।

राष्ट्रमें 'ओज, तेज, और सह' इन शक्तियोंका विकास होना चाहिए। तेजस्वी पुरुषोंकी संख्या बढानी चाहिए! निस्तेज, निर्वीर्य हतबल शक्तिहीन मनुष्योंकी संख्या राष्ट्रमें बढनेसे सब प्रकारका नुकसान होता है। जितनी संख्यामें तेजस्वी पुरुष राष्ट्रमें बढेंगे उतने प्रमाणसे राष्ट्रका तेज फैल सकता है। राष्ट्रमें 'बल' अर्थात् सैन्यभी चाहिए जिसके होनेसे क्षात्रतेज राष्ट्रमें स्थिर रह सकता है। संपूर्ण राष्ट्रमें क्षात्रतेजकी वृद्धि करना उचित है। इसके विना राष्ट्रीय जीवित सुरक्षित नहीं रह सकता।

राष्ट्रमें 'श्री और द्रविण' अर्थात् धन आदि बढाना चाहिए। धनके विना राष्ट्रका ठीक ठीक व्यवहारही नहीं चल सकता।

राष्ट्रका 'नाम यश और कीर्ति' वृद्धिंगत करनेके लिये हरएक मनुष्यका प्रयत्न तथा हरएक समाजका उद्योग होना आवश्यक है। सबको मिलजुलकर अपने राष्ट्रका वैभव बढाना उचित है। इसके लिये सबको 'ब्रह्म' अर्थात् ज्ञान देना चाहिए। जबतक मनुष्य ज्ञान संपन्न न होंगे तब तक उनकी योग्यता श्रेष्ठ नहीं हो सकती। ज्ञानही सब उन्नतिका साधन है। ज्ञानसे वंचित किसीको रखना उचित नहीं है।

धर्मका पालन हरएकको करना उचित है। जिस प्रकार व्यक्तिकी उन्नतिके लिये व्यक्तिधर्मका पालन होना चाहिए; उसी प्रकार राष्ट्रकी उन्नतिके लिए राष्ट्रीयधर्मका आंदोलन और पालन होना चाहिए। राष्ट्रधर्म क्या है और उसका पालन किस रीतिसे करना चाहिये, इस बातका विचार संपूर्ण राष्ट्रमें होना आवश्यक है। इसी कार्यके लिये 'वाक्' शक्ति अर्थात् वक्तृत्वशक्तिका विकास होना आवश्यक है। वक्तृत्वके विना

राष्ट्रधर्मका प्रचार नहीं हो सकता । सब (विशः) जनतामें (त्विषिः) तेजस्विता और (वर्चः) उग्रता अर्थात् आत्मसंमानकी प्रतिष्ठाकी भावना जागृत रखना उचित है । ये सब राष्ट्रोन्नतिके नियम हैं । पाठक इनका चिंतन करें । अंतमें उन्नतिके 'ऋत और सत्य' नियमोंका सबको पालन करना उचित है । क्यों कि इसके विना किसीकी उन्नति और श्रेष्ठता होनी नहीं है । इसप्रकार व्यक्तिधर्म और राष्ट्रधर्म इन दोनोंका समविकास करना वैदिकधर्मका उद्देश है ।

यदि पाठक इस प्रकार मंत्रोंके व्यक्तिगत अर्थ और सामाजिक अर्थ विचार पूर्वक देखेंगे तो उनको वैयक्तिक धर्मकी तथा राष्ट्रीय धर्मकी शक्ति विकसित करनेके उपायोंका परिज्ञान हो सकता है । पाठक यहां देख सकते हैं कि वैदिक धर्ममें किसप्रकार समविकासके नियम बताये हैं । सब प्रकारके गुणधर्मोंका विकास होनेके विना मानवी उन्नति नहीं हो सकती, यह वैदिक धर्मका सिद्धांत है । पाठक इसप्रकार वेदके मंत्रार्थका विचार करें और वैदिकधर्मकी विशेषताको जानें ।

सनातन धर्मका स्वरूप।

'सनातन धर्म' जगत्में प्रसिद्ध है। परंतु इसका निश्चित स्वरूप बहुत थोडे लोग जानते हैं। इसलिये इसके मूल स्वरूपका यहां विचार करेंगे-

'सनातन' शब्दका अर्थ-Perpetual, constant, eternal, permanent, firm, fixed, settled, primeval, ancient नित्य, सदा रहनेवाला, अनंत, अजरामर, अविनाशी, चिरस्थायी, स्थिर, निश्चित, नियमबद्ध, प्रारंभसे चला हुआ, प्राचीन। इतने अर्थोंमें 'सनातन धर्म' का नित्यत्व स्पष्ट है। **जो मनुष्यके साथ सदा रह सकता है वह सनातन धर्म है।**

कई कहते हैं कि सनातन धर्मका एक ही मुख्य लक्षण है और वह 'सत्य' है। दूसरे कहते हैं कि इस सनातन धर्मके दस लक्षण हैं।—

> धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिंद्रियनिग्रहः ॥
> धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणं ॥ मनु ॥

(१) धृति-धैर्य, (२) क्षमा-कष्ट सहन करनेकी शक्ति, (३) दम-मनोविकारोंका दमन, (४) अस्तेय-चोरी न करना, (५) शौच-शुद्धता, (६) इंद्रियनिग्रह—इंद्रियोंका निग्रह, (७) धी-धारणाशक्ति, (८) विद्या-ज्ञान (९) सत्यं-सचाई, (१०) अ-क्रोध—क्रोध न करना, ये सनातन धर्मके दस लक्षण कहे हैं। सब व्याख्याता गण और उपदेशक वर्ग इनका वर्णन कर रहे हैं। परंतु यहां सोचना चाहिए कि इनमें सनातनत्व क्या है। श्रीमद्भागवतमें धर्मके चार लक्षण कहे हैं—

> कृते प्रवर्तते धर्मश्चतुष्पात्तज्जनैर्धृतः ॥
> सत्यं दया तपो दानमिति पादा विभोर्नृप ॥

भाग. १२।३।१८

'सत्य, दया, तप और दान ये धर्मके चार पाद हैं।' अर्थात् इन चार लक्षणोंसे युक्त सनातन धर्म कृतयुगमें था। इसमें कहा है कि—

कृतयुग धर्म—	... सत्य,	दया,	तप,	दान
त्रेतायुग धर्म—	... ०	दया,	तप,	दान
द्वापरयुग धर्म—	... ०	०	तप,	दान
कलियुग धर्म—	... ०	०	०	दान

इस प्रकार चार युगोंमें एक एक भाग लुप्त होनेसे कलियुगमें चतुर्थ भाग ही अवशिष्ट रहा है। परंतु इस बातसे हमें यहां कुछ मतलब नहीं है। उक्त ग्रंथमें सनातन धर्मके ३० लक्षण कहे हैं, देखिए—

सत्यं दया तपः शौचं तितिक्षेक्षा शमो दमः॥
अहिंसा ब्रह्मचर्यं च त्यागः स्वाध्याय आर्जवं॥ ८॥
संतोषः समदृक् सेवा ग्राम्येहोपरमः शनैः॥
नृणां विपर्ययेहेक्षा मौनमात्मविमर्शनम्॥ ९॥
अन्नाद्यादेः संविभागो भूतेभ्यश्च यथार्हतः॥
तेष्वात्मदेवताबुद्धिः सुतरां नृषु पांडव॥ १०॥
श्रवणं कीर्तनं चास्य स्मरणं महतां गतेः॥
सेवेज्यावनतिर्दास्यं सख्यमात्मसमर्पणम्॥ ११॥
नृणामयं परो धर्मः सर्वेषां समुदाहृतः॥

श्री. भाग. ७।११।

इन श्लोकोंमें सनातन धर्मके तीस लक्षण कहे हैं। (१) सत्य (२) दया, (३) तप, (४) शौच, (५) तितिक्षा–सहन शक्ति, (६) ईक्षा–निरीक्षण करना, (७) शम, (८) दम, (९) अहिंसा, (१०) ब्रह्मचर्य, (११) त्याग–दान (१२) स्वाध्याय, (१३) आर्जव–सरलता, (१४) संतोष, (१५) समदृष्टि–समताभाव, (१६) ग्राम्य विकारोंका शमन, (१७) मनुष्योंकी विपरीत अवस्थाका विचार, (१८) मौन, (१९) आत्मपरीक्षण, (२०) अन्नदान, (२१) आत्मवद्भाव, (२२) परमेश्वरका गुणवर्णन, (२३) ईशगुणोंका श्रवण, (२४) ध्यान, (२५) परमात्मसेवा, (२६) सत्कर्म, (२७) नम्रता, (२८) ईश्वरका दास बनकर रहना, (२९) ईश्वरके साथ मित्रता, (३०) आत्मसमर्पण। ये धर्मके तीस लक्षण कहे हैं।

ये सब लक्षण वेदमें कहे हैं। सत्य, दया, तप आदि सब गुण वेद मंत्रोंसे ही लिये हैं। हरएककी सिद्धि वेद मंत्रोंसे की जा सकती है। यहां स्थल न होनेके कारण प्रत्येक गुण वेदोक्त है ऐसा सिद्ध करनेके लिये वेदके मंत्र दिये नहीं जा सकते, परंतु किसी अन्य समय बताये जांयगे। यहां केवल इन लक्षणोंका सनातनत्व ही देखना है।

'सनातन धर्म' वह होता है कि जो देश, काल, जाति, अवस्था आदी मर्यादाओंसे मर्यादित न होता हुआ मनुष्यमात्रके पास सदा रह सकता है। किसी देशका, किसी कालका, किसी जातिका अथवा किसी अवस्थाका धर्म 'सनातन धर्म' नहीं हो सकता। जो सब देशों, सब कालों, सब जातियों और सब अवस्थाओंमें मनुष्यके साथ रह सकता है वहही सनातन धर्म है। यही बात इसमें मुख्य है। जिस किसी देशका सज्जन धार्मिक मनुष्य होगा उसमें उक्त लक्षण हो सकते हैं, वह अपने आपको सनातनी समझे या न समझे।

मनुष्य छोटा बडा, श्रीमान दरिद्री, सबल निर्बल, उच्च नीच किसी प्रकारकी अवस्थामें हो, वह सदा उक्त सनातन धर्मका पालन कर सकता है। मनुष्य स्वतंत्रतामें रहे अथवा परतंत्र अवस्थामें रहे, नगरमें रहता हो अथवा जेलखानेमें पडा हो, पहाडोंमें घूमता हो अथवा बजारोंमें विचरता हो, सब कालमें सब अवस्थामें उक्त धर्म वह अपने पास रख सकता है। हर एक धर्मका, पंथका अथवा मतका मनुष्य इन धर्मोंका पालन करके ही उच्च पदवीको प्राप्त होता है, सनातन धर्म इतना व्यापक है। वह किसी पंथ और मतमें बंद नहीं है, यही बात सबसे प्रथम ध्यानमें आनी चाहिए। तब ही सनातन धर्मका रहस्य ज्ञात हो सकता है। अब देखिए कि सनातन धर्मका 'सत्य' एक लक्षण है। हरएक देशका मनुष्य हरएक अवस्थामें इसका पालन कर सकता है। जेलखानेमें पडा हुआ मनुष्य जैसा सत्यनिष्ठ और सत्याग्रही हो सकता है, उसी प्रकार नगरका स्वतंत्र नागरिक भी हो सकत है। परतंत्रता और स्वतंत्रता, समृद्धि और दरिद्रता, अधिकार और अनधिकार आदि सब अवस्थाओंमें उसका पालन हो सकता है। यह ही एक लक्षण सनातन धर्मका है।

सनातन धर्मके चार लक्षण जो पूर्व स्थलमें कहे हैं वे (१) सत्य (२) दया, (३) तप और (४) दान हैं। ये लक्षण हरएक स्थानमें पालन हो सकते हैं। हरएक देश, स्थान और अवस्थामें दयामय अंतःकरणका वर्ताव किया जा सकता है। तप का अर्थ सत्यमार्गके अनुष्ठानमें यदि कष्ट भोगनेका प्रसंग आजावे तो उसको आनंदसे सहन करना, जैसा स्वतंत्र मनुष्य उसीप्रकार परतंत्र मनुष्य इस धर्मका पालन कर सकता है। दान अर्थात् परोपकार भी हरएक स्थानमें किया जा सकता है, जो जिसके पास होगा उसका दूसरोंकी भलाईके लिये त्याग करना हरएक कर सकता है।

दश लक्षणोंमें धैर्य, शुद्धता, इंद्रियनिग्रह, क्रोध न करना आदि शेष लक्षणभी इसी प्रकार सर्वव्यापक हैं। कौनसा ऐसा भूमीका भाग है कि जहांके सज्जन इन गुणधर्मोंको बहुत बुरा कह सकतें है और इनको छोडकर उन्नत हो सकते हैं? इन सनातन धर्मोंके लक्षणोंमें खूबी यह है कि इनके पालन करनेके लिये किसी मनुष्यको अपने पंथ, मत अथवा महजबको छोडनेकी जरूरत नहीं है। हरएक मनुष्य इनका पूर्णतया पालन कर सकता है। इसमें पंथका आग्रह नहीं है, मतका अभिमान नहीं है, मजहबोंका झगडा नहीं है। केवल तत्वके साथ प्रेम चाहिए।

सनातन धर्मके उक्त तीस लक्षणभी इसी प्रकार उदार हैं। इंद्रियदमन, मनोनिग्रह, अहिंसा, ब्रह्मचर्य, दान, अध्ययन, सरलता, संतोष, समभाव ग्राम्य विकारोंका दमन, विपरीत परिणामका विचार करके बुराईसे दूर रहना, बड़बड़ न करना, अपनी परीक्षा करके अपने अंदर उच्चभाव लानेका यत्न करना, गरीबोंको अन्नदान करना, अपने समान सब प्राणिमात्र हैं ऐसा विचार मनमें धारण करके सब प्राणियोंके साथ प्रेमका व्यवहार करना, परमेश्वरके गुणोंका श्रवण, मनन आदि करना, सदा सत्कर्ममें तत्पर रहना, अपने सर्वस्वका परमेश्वरके लिये तथा सत्यके लिये अर्पण करना आदिभाव उक्त तीस लक्षणोंमें हैं। ये भाव इतने सार्वत्रिक हैं कि इनकी उच्चताके विषयमें किसीका मतभेद नहीं हो सकता,

अहिंसाके विषयमें कहा जा सकता है कि मुसलमानी मजहबमें तथा ईसाई मतमें अहिंसा नहीं है। परंतु यहां सोचना यह है कि यदि ये लोग

अहिंसाको माननेवाले बन जांयगे तो मानवी समाजकी उन्नति होगी या अवनति होगी ! **अहिंसाका तात्पर्य इतनाही है कि दूसरोंको किसी प्रकारसे कष्ट न देना।** क्या इस भावको धारण करनेसे किसीकी सत्य धर्म दृष्टिसे अवनति हो सकती है? कदाचित् राज्य बढाना, संपत्तिमान होना आदि प्राकृतिक भोगोंकी दृष्टिसे न्यूनता होगी। **परंतु आत्मिक बलकी दृष्टिसे अहिंसा गुण अत्यंत श्रेष्ठ है।** तथा यदि मुसलमान और ईसाई भाई अहिंसाका पालन करने लगेंगे और सब जगत्में अहिंसाका भाव बढेगा तो निःसंदेहः जगत्में अधिक शांति चिरकालतक रहेगी। इसीलिये आर्य ऋषिमुनियोंनें धर्मके लक्षणोंमें '**अहिंसा**' को अवश्य रखा है।

उक्त श्लोकोंमें 'इज्या' शब्द केवल सत्कर्मवाचक है। सत्कार-संगति–दानात्मक सत्कर्मका भाव इस शब्दसे लेना होता है (१) ज्ञानका उपदेश करना, (२) बडोंका सत्कार करना, (३) प्राणियोंको अन्न देना, (४) मनुष्यमात्रकी सहायता करना, तथा (५) पृथिव्यादि पदार्थोंको निर्मल रखना; ये पांच यज्ञके पांच उद्देश हैं। 'इज्या' शब्दसे इन पंच सत्कर्मोंका बोध होता है।

इस प्रकार ये '**सनातन धर्म**' के तीस लक्षण पूर्ण रीतिसे '**सार्वभौमिक धर्म**' के गुण हैं। हरएक स्थानके धार्मिक सज्जन इनका अवश्य पालन करते ही हैं, इतना ही नहीं परंतु इनके पालनके विना महात्मापन प्राप्त नहीं हो सकता। यह बात और है कि मताभिमानसे कोई किसीको संत कहे और किसीको न कहे। परंतु सत्य धर्मकी दिव्य दृष्टिसे इन लक्षणोंको अपने अंदर धारण करनेवालेही 'सच्चे सत्पुरुष' हो सकते हैं।

सनातन धर्मी मनुष्य अपने आपको सनातन धर्मी कहते हैं परंतु उक्त लक्षणोंका अस्तित्व उनमें जितना होगा उससेही उनका सनातनधर्मीयत्व सिद्ध होना है। आर्य समाजी वैदिक धर्मी होनेसे उनकोभी अपने आपको सनातन धर्मी कहने कहलवानेका अधिकार अवश्य है। परंतु इन वैदिक तीस तत्वोंका प्रभाव आचरणमें जितने दर्जेतक प्रकाशित होगा उतनाही सनातन धर्मका भाव उनमें हो सकता है। अन्यधर्मी और अन्य

पंथी मनुष्योंमेंभी इन्हीं गुणोंका विकास होनेसे मनुष्यत्वकी उन्नति हो सकती है ।

वैदिक धर्मके ये तीस सनातन अटल और सार्वभौमिक सिद्धांत हैं । पंथ, मत और पक्षाभिमानसे रहित ये तीस वैदिक तत्व हैं । इसीको **सनातन वैदिक धर्म** कहते हैं । यहां आग्रह या दुराग्रहके लिये स्थान नहीं है, अन्य मतोंके द्वेषका यहां झगडा नहीं है, शास्त्रार्थोंके ईर्ष्या द्वेषकी यहां जरूरत नहीं; यहां केवल मनुष्यत्वके विकासकी दृष्टि है, जो इन सिद्धांतोंको अपनायेगा वह विना शुद्धि संस्कारकेभी सनातन धर्मी ही हैं, लोग उसको वैसा मानें या न मानें ।

एक बात अंतमें कहनी है कि (१) **सनातन धर्म** वैदिक धर्मके अंदर पूर्ण रूपसे है, परंतु (२) **वैदिकधर्म** सनातन धर्ममें पूर्ण रूपसे नहीं अंतर्भूत हो सकता । सनातन धर्मके उक्त लक्षण देखनेसे इस बातका स्वयं पता लग सकता है । सनातन धर्मके पूर्वोक्त तत्वोंमें मानवी धर्मके सामान्य और व्यापक तत्व हैं । परंतु इनके अतिरिक्त ऐसे विशेष तत्व हैं की जिनका अंतर्भाव उक्त लक्षणोंमें नहीं हो सकता । राजा प्रजाके कर्तव्य, स्त्रीपुरुषके कर्तव्य, भाईभाईके कर्तव्य आदि हजारों और लाखों ऐसीं बातें हैं कि जिनका पूर्णतया और पूर्णरूपसे अंतर्भाव सनातन धर्मके पूर्वोक्त तत्वोंमें नहीं हो सकता । इन सब तत्वोंका अंतर्भाव **वैदिक** धर्ममें पूर्णतया है । इसलिये ऊपर कहा है कि सनातन धर्म पूर्णतया वैदिक धर्ममें है परंतु वैदिक धर्म पूर्णतया सनातन धर्मके अंदर नहीं है । जिस प्रकार आसन और प्राणायाम योगमें अंतर्भूत होते हैं परंतु संपूर्ण योगसाधन आसन प्राणायामोंमें अंतर्भूत नहीं हो सकता, उसी प्रकार यहां समझिये ।

इसप्रकार सनातन धर्मका वास्तविक स्वरूप है । और वैदिक धर्मकी विशेषता है । पाठक इसको अपनी आंतरिक दृष्टिसे अवश्य सोचें, विचारें और इसकी अपूर्वताको जानें । सनातन धर्मके मूल सिद्धांतोंकी सार्वभौमिकतासे ही वैदिक धर्मकी श्रेष्ठताका ज्ञान हो सकता है । इसी लिये इसको मानव धर्म कहते हैं ।

चार वेदोंकी सत्वरचना।

प्रत्येक वेदमें कौनसा विशेष सत्व है, जो एकको दूसरेसे पृथक् करता है, और जिसके कारण इस वेदका विशेष महत्व स्थापित हुआ है, इसका विचार करना अत्यंत आवश्यक है तथा प्रत्येक वेदके सत्वका परस्पर संबंध किस प्रकारका है इसकी थोडीसी समालोचना करना आवश्यक है।

वास्तवमें चारों वेद मिलकर एकही वेद राशी है। जिस प्रकार सिर, हाथ, पेट और पांव मिलकर शरीर होता है; किंवा आत्मा, बुद्धि, मन और स्थूलशरीर मिलकर एक पुरुष होता है; उसीप्रकार ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद मिलकर एक 'वेद' होता है। इस प्रकार चार वेदोमें ज्ञान दृष्टिसे एकता निःसंदेह है, परंतु प्रत्येक वेदमें अपनी एक सत्वरूप विशेषता स्पष्ट है, जिसके कारण प्रत्येक वेदका अन्य वेदोंकी अपेक्षा, स्वतंत्र अस्तित्व होनेका हेतु स्पष्ट होता है। इसी बातका इस लेखमें विचार करना है।

यद्यपि सब शरीर अस्थि चर्म मज्जा मांस रुधिर आदि पदार्थोंका बना है, तथापि आंखकी विशेषता नाकमें नहीं और नाककी विशेषता कानमें नहीं है, इसलिये प्रत्येक अवयवके अस्तित्वकी सफलता और सुफलता सिद्ध हो रही है। कोई एक अवयव अपना कार्य करनेमें असमर्थ होनेसे शरीरपर बडीभारी आपत्ति आती है, उसीप्रकार किसीएक वेदका मनुष्योंमें अज्ञान होनेसे मानवी उन्नतिमें निःसंदेह बाधा उत्पन्न हो सकती है। इससे पाठक ख्याल कर सकते हैं, कि जिस कालमें किसीभी वेदका ज्ञान न रहेगा, उस समय मनुष्योंकी अवस्था कितनी गिर सकती है।

मनुष्यमें निम्न चार बातें मुख्य हैं (१) बुद्धि, (२) प्राण, (३) मन (४) वाचा। बाह्य इंद्रियदशक में मनुष्यत्वकी विशेषता वागिंद्रियसे सिद्ध होती है। इस इंद्रियके अभाव में अर्थात् वाक्शक्तिके अभावसे मनुष्यकी पशुपक्षियोंके साथ समानता सिद्ध हो जायगी। अंदरके

इंद्रियोंमें मनकी प्रधानता है, सारासार विचार करना, अच्छे बुरेका सोच विचार करना आदि सब मननका कार्य इसी मनके कारण हो रहा है। इसके ऊपर सब जीवनकी आधार रूप प्राणशक्ति है, जिसके रहने और न रहनेसे मनुष्यका जीवन और मरण है। इसके ऊपर आत्माकी निजशक्ति, जो बुद्धिरूपसे प्रसिद्ध है, विराजमान है; यह शक्ति आत्माके साथ सतत रहती है, और इसका आत्माके साथ कभी वियोग नहीं होता। मनुष्यमें बहुतसीं अन्य शक्तियां हैं जिनका इससमय विचार करनेकी आवश्यकता नहीं है। ये चार शक्तियां प्रमुख हैं और इनकी अध्यक्षताके नीचे सब अन्य शक्तियां अपना अपना कार्य करतीं है, इसलिये इनके ग्रहण करनेसे सब अन्य शक्तियोंका स्वयं अंतर्भाव हो जाता है।

हाथपांव आदि अन्य अवयव पशुपक्षियोंके समानही मनुष्यमें हैं। इसकारण उनका वर्णन करनेकी कोई आवश्यकता नहीं है, जो शक्तियां मनुष्यकेलिये विशेष हैं उनहींका यहां विचार करना है। यद्यपि बुद्धि, प्राण, मन और वाणी ये चार शक्तियां भी पशुपक्षियोंमें सूक्ष्म रूपसे विद्यमान हैं, तथापि जिसप्रकार मनुष्यही इनसे कार्य ले सकता है, और व्यक्तिकी तथा समुदायकी उन्नति कर सकता है, उसप्रकार कोई अन्यप्राणी नहीं कर सकता; इसलिये ये चार शक्तियां मनुष्यमें ही विशेष प्रकारसे रखीं हैं। ऐसा कहा जाता है, इन चार शक्तियोंके साथ चार वेदोंका संबंध वेदनेही स्वयं जोड़ा है; देखिए—

(१) ऋचं वाचं प्रपद्ये—मैं वाणीको लेकर ऋग्वेदकी शरण लेता हूं,
(२) मनो यजुः प्रपद्ये—मैं मनको लेकर यजुर्वेदकी शरण लेता हूं,
(३) साम प्राणं प्रपद्ये—मैं प्राणको लेकर सामवेदकी शरण लेता हूं, तथा—
(४) चक्षुःश्रोत्रं प्रपद्ये—मैं अपनी श्रवणशक्तिको लेकर अथर्ववेदकी शरण लेता हूं॥

इसप्रकार चारों वेदोंकी शरण लेनेकी सूचना यजुर्वेद अ० ३६ के प्रथम मंत्रनें दी है। सच्ची शांतिका यह ही सच्चा उपाय है। इस मंत्रका थोडासा विचार करनेसे चारों वेदोंके सत्वकी रचना भी स्वयं ज्ञात हो सकती है।—

(१) ऋग्वेद वाणीकी शुद्धि करनेवाला है। इसलिये इसके मंत्रसमुदायका नाम सूक्त होता है। (सु) उत्तम (उक्त) कथन, सु+उक्त (सूक्त) अर्थात् उत्तम कथन, उत्तम विचार, सुविचार, सुभाषित, Holy Thought पवित्रविचार के समुदायका नाम ऋग्वेद है। सुविचारोंसे वाणीकी शुद्धि होती है। कुविचारका ख्याल दूर करने और सुविचारको पास करनेका सबसे महत्वका कर्तव्य ऋग्वेद कर रहा है। मनुष्योंके विचारोंकी और वाणीकी शुद्धि इससे होती है।

(२) यजुर्वेद मनकी शुद्धि करता है। यजुर्वेदके मंत्रसमुदायका नाम अध्याय होता है। अध्याय, अध्ययन, अभ्यास, Study मनके द्वारा होता है। यह मन जागृतिमें सदैव किसी न किसी कार्यमें लगा रहता है। इसलिये इसको प्रशस्ततम कर्मोंमें संयुक्त करके शुद्ध करना यजुर्वेदका कर्तव्य है। पवित्र कर्मोंसे मनको शुद्ध करना यजुर्वेदसे होता है।

(३) सामवेद प्राणकी शक्तिके साथ रहनेवाली निर्विकार अंतःकरणकी उच्चशक्तिकी पवित्रता बढाता है। पूर्वोक्त मन, जो जागृतिमें संकल्पविकल्पोंमें लगा रहता है, उसकी शुद्धि प्रशस्त कर्मोंमें मग्न होनेसे यजुर्वेदद्वारा होगई। परंतु उससे भी सूक्ष्म एक विशेष निर्विकारी कल्पनाशक्ति मनुष्यके अंदर विराजमान है, जो संकल्पविकल्प, तर्क-कुतर्क-वितर्क आदिमें नहीं आती, परंतु मन और प्राणकी एकतानताके साथ निर्विकार ज्ञानसे युक्त होती हुई मनुष्यके अंदर विलक्षण सामर्थ्य उत्पन्न करती है। इसकी पवित्रता उपासनाद्वारा होती है जो सामवेदका कार्य है। सामवेदके मंत्रसमुदायको 'सामन्' कहते हैं, जिसका तात्पर्य चित्तवृत्तिकी शांतिसे है।

(४) अथर्ववेद शुद्धज्ञानद्वारा बुद्धिकी और आत्माकी शुद्धि करता है। श्रवण इंद्रियके द्वारा गुरुमुखसे ज्ञान बुद्धिके अंदर प्रविष्ट होता है, और वहांकी पवित्रता करता है। इस अथर्ववेदके मंत्रसमुदायका नाम 'ब्रह्म' होता है। इसलिये अथर्ववेदको 'ब्रह्मवेद' भी कहते हैं।

मनुष्यमात्रकी उन्नतिके लिये इन चार वेदोंके इन चार सत्वरूप कार्योंकी अत्यंत महत्वपूर्ण आवश्यकता है। योगीजन प्राण और बुद्धिकी

बुद्धिद्वारा विलक्षण सामर्थ्य अपनेमें प्राप्त करता है, और साधारण मनुष्य वाचा और मनकी शुद्धिद्वारा अपनेमें एक प्रकारका सामर्थ्य लाता है। तात्पर्य मनुष्यकी उक्त चार शक्तियोंका समविकास करनेके कारण चार वेदोंका महत्व स्पष्ट है। चार वेदोंमेंसे किसीएक वेदका अभाव होनेसे किस प्रकारकी हानि होना संभव है इसका बोध इस विवरणके द्वारा हो सकता है।

चार वेदोंका पढना पढाना, सुनना सुनाना प्रत्येक आर्यका इसी कारण परमधर्म है। जो नहीं पढते, तथा जो पढनेपढानेका मार्ग सुगम नहीं करते वे अपने कर्तव्यसे इसीलिये गिरते हैं। हरएक आर्यको चाहिए कि वह अपनी वाचा शक्तिकी पवित्रता ऋग्वेदके मंत्रोंका अध्ययन और मनन करके करे, अपने मनकी शुद्धता यजुर्वेदमंत्रोंका अध्ययन तथा प्रशस्त कर्मका अनुष्ठान करके करे, अपनी जीवनशक्तिका सुधार साममंत्रोंका अध्ययन और परब्रह्मोपासनाद्वारा करे तथा अपनी आत्मोन्नति अथर्ववेद मंत्रोंके अध्ययन और आत्मवृत्तियोंके निरोधसे संपादन करे। इसप्रकार मनुष्य उच्च और श्रेष्ठ बनकर अपना और जनताका अभ्युदय और निःश्रेयस प्राप्त करे।

स्तुति, प्रार्थना और उपासना।

स्तुति, प्रार्थना, उपासना और आत्मविकास ये चार वैदिक धर्मके मुख्य केंद्र हैं। स्तुतिसे तात्पर्य इतनाही है कि परमेश्वरके श्रेष्ठ सद्गुणोंका चिंतन करना। मनसे दुष्ट विचारोंको दूर करना, और वहां श्रेष्ठ विचारोंकी स्थापना करना, यह कार्य केवल ईश्वरकी स्तुतिसे ही साध्य होता है। मनकी इस प्रकार शुद्धि करनेकेलिये कोई अन्य उपाय नहीं है। जो लोग सब बातें केवल प्रत्यक्ष प्रमाणसेही सिद्ध करना चाहते हैं, उनके प्रयत्नसे आध्यात्मिक आंतरिक शक्तियोंके चमत्कारोंकी बातें सिद्ध नहीं हो सकतीं। प्रत्यक्ष प्रमाण बाह्य जगतके विषयमें उपयोगी है। मनकी विविध शक्तियोंतक उसकी पहुंच है। परंतु मनके परे और आत्माके क्षेत्रतक इतनीं महान शक्तियां मनुष्यके अंदर विद्यमान हैं, कि जिनकी सिद्धि केवल प्रत्यक्ष प्रमाणसे नहीं हो सकती, इन दिव्य शक्तियोंका विकास स्तुति प्रार्थना–उपासनासे होता है, और इनका विकास होकर ही आत्मशक्तियोंका विकास हो सकता है।

संध्यासे जो कार्य होना है वह यहही है। परंतु आजकल इतने लोग हैं कि जो कहते हैं, कि संध्या करनेसे कोई लाभ नहीं हुआ। इसमें आश्चर्यकी बात इतनीही है कि, उनको अपने संध्या करनेके मार्गमें कोई दोष ज्ञात नहीं होते। अपने दोषोंका ज्ञान न होनाही एक बडाभारी विघ्न उन्नतिके मार्गमें सदा है। जो इसको दूर करेगा वहही आगे बढ सकता है।

प्रार्थनाके विषयमें भी लोग कहते हैं कि कोई लाभ नहीं होता। कई कहते हैं कि प्रार्थना करना एक ढोंग है। तीसरे विद्वान कहते हैं कि मनको विश्राम देनेका यह एक उपाय है परंतु वास्तविक कोई लाभ नहीं है। अस्तु। इस प्रकारका मत आजकल प्रचलित हुआ है।

ऐसा क्यों हुआ है ? केवल इसी कारण कि विद्वान लोग केवल अपने विचारकी आंखसेही बातें देखना और सिद्ध करना चाहते हैं। शरीरकी आंख बाहेरके पदार्थ देखसकती है, और विचारकी आंख निद्राकी अव-

स्थातकका ज्ञान प्राप्त कर सकती है। निद्रा [सुषुप्ति] समाधि और मुक्तिका अनुभव इन दोनों–बाह्य और आंतरिक–आंखोंसे नहीं प्राप्त होसकता। उसका अनुभव करनेका मार्ग भिन्न है और वह श्रद्धासे स्तुति प्रार्थना उपासना करनाही है। श्रद्धाके विना, जितने मर्जी चाहें साधन एकत्रित कीजिए, एक कदम भी प्रगति नहीं हो सकती।

जो कहते हैं कि संध्या करनेसे हमें कोई लाभ नहीं हुआ उनसे पूछना चाहिए की उनके अंतःकरणोंमें परमेश्वरपर तथा परमेश्वरीय ऋत नियमोंपर कितनी श्रद्धा थी? संध्या और प्रार्थना करनेकेसमय उनके हृदयकी अवस्था कैसी रहती थी? प्रार्थनाके समय भक्तिसे मन प्रफुल्लित होता था या जागृतिके विचारोंसे मलीन होता रहता था। युक्तियोंसे इसका उत्तर देनेका यत्न न कीजिए। अपने आपही सोच विचार कीजिए। युक्तियोंसे दूसरेका समाधान होगा। अपने आपका समाधान युक्तियोंसे नहीं हो सकता। युक्तियोंकी मंजल निचली है। उसकी ऊपरली मंजलका यह प्रश्न है। जिसके हृदयमें श्रद्धा देवीका राज्य नहीं है वहां धर्मका पराजयही होना है यह ठीक स्मरण रखिए; देखिए—

श्रद्धां प्रातर्हवामहे श्रद्धां मध्यंदिनं परि॥
श्रद्धां सूर्यस्य निम्रुचि श्रद्धे श्रद्धापयेह नः॥

ऋ. १०।१५१।५

"प्रातःकालमें, दिनके बीचमें, और सूर्यके अस्त होनेके समय श्रद्धा-देवीकी प्रार्थना करेंगे कि हे श्रद्धे (नः श्रद्धापय) हम सबको श्रद्धालु बनाओ।"

यह वेदका कहना इसलिये है कि श्रद्धाके विना धर्मकी उच्च शक्तियोंका विकास कदापि नहीं हो सकता। इसलिये सब कालमें हृदय भक्तिसे परिपूर्ण रखना चाहिए।

जो परमेश्वरपर तथा उसके ऋतनियमोंपर श्रद्धा रखता है उसको पता होता है कि परमेश्वर सबसे श्रेष्ठ और सबसे प्रबल है, तथा उसके नियम अटूट हैं। यदि श्रद्धाके साथ इतनी बात हृदयमें बैठ जायगी तो वहां ढोंग, धोखा, मक्कारी, व्यर्थ आडंबर नहीं ठहर सकता। जहां थोडासाभी ढोंग और धोखा होगा वहां निश्चयसे समझ लीजिए कि

परमेश्वरपर दृढ विश्वास नहीं है । वह समझता है कि मैं धोखेसे परमेश्वरके ऋत नियमोंका उल्लंघन कर सकता हूं इसी विश्वाससे तो वह धोखा करता है।

परमेश्वरपर दृढ विश्वास रखनेवाला मनुष्य दूसरेका घातपात करने और अपना स्वार्थ साधनेकेलियेही केवल प्रार्थना नहीं कर सकता । उसकी प्रार्थना आत्मशुद्धि, आत्मोन्नति और अपनी पवित्रताकेलिये ही होगी और इसी कारण वह प्रार्थना अवश्य सुनी जाती है । इस प्रकारकी प्रार्थना कभी व्यर्थ नहीं जाती । इस भावसे प्रार्थना करके देखिये उसी समय मनकी वृत्तियोंमें और ही प्रकारकी शक्ति संचारित हो रही है ऐसा अनुभव आजायगा ।

परंतु यदि आप ऐसी प्रार्थना करेंगे कि जिसमें दूसरेका घातपात होकर आपकी उन्नतिका साधन होता हो, तो आप यह न समझिए कि आपके प्रार्थनामात्रसे परमेश्वरका स्वभाव बदल सकता है और उसके ऋत नियमोंमें परिवर्तन हो सकता है । इस प्रकारकी प्रार्थनासे आपका घातही होगा इसमें कोई संदेह नहीं ।

इसलिये सर्वव्यापक सर्वाधार और सर्व शक्तिमान परमेश्वरके सर्वव्यापक अटूट नियमोंका मनन कीजिए। सर्वत्र समता, शांति और निर्भयता स्थापित होनेके लिये उसके नियम किस प्रकार संपूर्ण जगतमें कार्य कर रहे हैं, यह देखिए, और उनके सर्वजन-हितकारी कार्य करने तथा समता, शांति और निर्भयता सर्वत्र स्थापन करनेके कार्यमें अपने आपको समर्पित करनेके हेतुसे अपनी उन्नति और पवित्रता करनेके लिये प्रतिदिन प्रार्थना कीजिए । देखिए ऐसा करनेसे परमात्माका दयामय सहारा आपकेपास आता है या नहीं ।

प्रार्थनाकेलिये यदि आपको बहुत समय नहीं मिल सकता, तो आप थोडाही समय रखिए परंतु उस समय सिवाय परमात्माके शुद्ध गुणचिंतनके अन्य प्राकृतिक विचार बिलकुल न कीजिए । जिसप्रकार चंद्रके दर्शनसे महासागर उछलने लगता है उसप्रकार प्रार्थनाकेसमय प्रेमके कारण आपका हृदयसमुद्र उछलना चाहिए । यदि प्रयत्न करेंगे तो आप इस अवस्थाको प्राप्त कर सकते हैं और इस अवस्थाकी प्राप्ति होनेके पश्चात् आप कभी नहीं कह सकेंगे कि संध्यासे लाभ नहीं होता ।

निश्चयके साथ आजही प्रारंभ कीजिए । क्यों कि शुभ बातका प्रारंभ शीघ्रही करना चाहिए ।

आत्माका अनुभव।

कई पूछते हैं कि शरीरसे आत्मा भिन्न है, इसका अनुभव प्राप्त हो सकता है या नहीं? उत्तरमें निवेदन है कि अभ्याससे इसका अनुभव प्राप्त हो सकता है। इसका अभ्यास निम्न प्रकार किया जाता है। अच्छी-प्रकार यम, नियम, आसन, प्राणायाम आदि पूर्वक संध्या करनेके पश्चात् जिस समय चित्त शांत होता है उस समय निम्न विचार मनमें दृढ करनेका निष्ठा और श्रद्धापूर्वक अभ्यास करना तथा रात्रीमें सो जानेसे पूर्व सब प्रकारकी चिंता दूर करके अवश्य एकवार निम्न विचार मनमें स्थिर करना चाहिए।

"मैं आत्मा हूं, मैं इस शरीरका राजा हूं। मैं परमेश्वरके अंदर हूं और परमेश्वर मेरे चारों ओर तथा मेरे अंदरभी व्यापक है। सर्वाधार सर्वशक्तिमान परमेश्वरका आधार मुझे है इसलिये मुझे कोईभी डरा नहीं सकता। इसलिये सदा निर्भय होकर मैं धर्मका कार्य करता रहूंगा।"

"यह शरीर मेरा स्वराज्य है और इसका मैं एकमात्र राजा हूं। इस शरीरमें मैंही अग्नि और इंद्र हूं। मैं ही इसका स्वामी हूं। मैं साधक हूं, यह शरीर मेरा साधन है और अंतर्बाह्य शांति तथा आत्मिक आनंद प्राप्त करना मेरा साध्य है।"

"बुद्धि, मन, सब इंद्रियां तथा इतर संपूर्ण अवयव और सर्व शरीर मेरे साधन हैं। उनका यथायोग्य उपयोग करनेवाला मैंही एक अधिष्ठाता हूं। मेरे अतिरिक्त दूसरे किसीका अधिकार इस शरीरपर नहीं है। मेरा विचारही इस शरीररूपी राज्यमें सर्वत्र कार्य करेगा। हे बुद्धि देवी! तूं मेरी सहधर्मचारिणी है, स्मरण रहे कि मेरे आधीन रहकर ही तुझे सब कार्य करना होगा। हे मन! तू सब इंद्रियोंका निरीक्षक है, मेरे अनुकूल रहकर ही तुझको कार्य करना चाहिए। तू बडा चंचल है, परंतु स्मरण

रख कि अब तेरी चंचलता मैं शीघ्र दूर करूंगा। मेरी आज्ञाका पालन तुमको अवश्य करना चाहिए। यदि कोई कुसंस्कार तुमने जागृत किये तो तुमको अवश्य दंड दूंगा। हे सब इंद्रियो! अब सत्य धर्मके मार्ग परसे तुमको चलना होगा। इधर उधर भटकनेकी तुमको आजसे आज्ञा नहीं है। हे शरीरकी सब शक्तियो! आजसे तुम सबको मैं स्वाधीन रखता हूं, अब मेराही आदेश तुम सबपर चलेगा। मैं इस शरीरमें स्वतंत्र संयमी राजा और समर्थ आत्मा हूं।

"योऽसावादित्ये पुरुषः सोऽसावहं।" यजु. ४०।१७

ॐ शांतिः शांतिः शांतिः।

छे मासके दृढ अभ्याससे अपने स्वतंत्र अस्तित्वका अनुभव होने लगता है। अनुभव लीजिए।
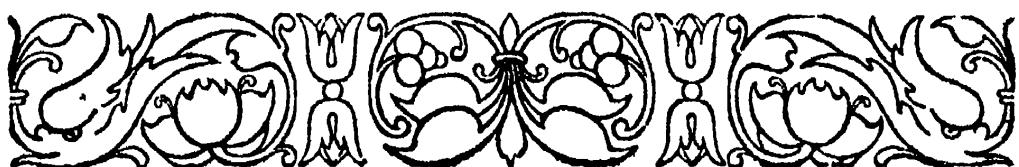
वैदिक धर्म और आजकलके विचार।

वैदिक धर्मका वास्तविक स्वरूप क्या है और आजकलके विचार कैसे बन गये हैं, इसका विचार करना आवश्यक है। भारतवर्षीय लोग अपने आपको "वैदिक धर्मी" कहते हैं और समझते हैं। हिंदुमात्रकी वेदपर श्रद्धा भी है। परंतु किसी पुस्तक पर श्रद्धा रखना भिन्न बात है, और उस ग्रंथके उपदेशके समान आचरण करना भिन्न बात है।

एक समय था जिस समय आर्योंमें केवल वेदका ही धर्म जीवित और जागृत था। वह अवस्था आज नहीं है। यद्यपि वेद भगवानपर आज भी आर्योंकी श्रद्धा है, तथापि वेदका धर्म उनके दैनिक आचारमें इस समय नहीं है। वेदके विचार और आजकलके हिंदुमात्रके विचार बहुतही भिन्न होगये हैं। वेदका तत्वज्ञान भिन्न है, और आजकल कई प्रकारके तत्वज्ञानोंके झगडे चल रहे हैं। यद्यपि मूल धर्मपुस्तकमें बडी श्रद्धा है, तथापि दैनिक धर्मके व्यवहार अन्य पुस्तकोंसे ही चलते रहते हैं। इस कारण वेदके साथ साक्षात् संबंध बहुतही थोडे लोगोंका आता है।

इतिहास साक्षी देता है, कि जिस समय वैदिक धर्म आर्योंमें जीवित और जागृत था, जिस समय वेदमंत्रोंके उपदेशके अनुसार आर्योंका दैनंदिनीय व्यवहार चलता था, उस समय आर्योंका अद्वितीय यश था। उस समय आर्योंके तेजके साथ कोई भी अन्य समाज मुकाबला नहीं कर सकता था। जहां आर्य पहुंचते थे, वहां उनका धवल यश चिरस्थायी हो जाता था। जहां आर्योंका सूर्य चिन्हांकित वैदिक झंडा पहुंचता था, वहां आर्योंका विजय अवश्य हो जाता था। वैदिक कालमें आर्योंका अद्वितीय यशस्वी विजय इस भूमंडलपर सर्वत्र हो रहा था। जो ऐतिहासिक तत्वको जानते हैं, वे एकमतसे मानते हैं, कि वैदिक आर्योंका विजय उत्तर ध्रुवसे दक्षिण ध्रुवतक और पूर्वसे पश्चिमतक संपूर्ण देशोंमें प्राचीन कालमें हो रहा था। जहां आर्योंकी सूर्यचिन्हांकित पताका पहुंची, वहां उनका विजय अवश्यही हुआ है। यह प्राचीन आर्योंका धवल यश था!!!

परंतु अबके आर्यवंशजोंकी क्या अवस्था है? क्यों अबके आर्यवंशज ऐसे निस्तेज और निरुत्साही दीख रहे हैं? उसी भारत वर्षमें रहनेवाले आर्यवंशज क्यों सब लोगोंके पीछे हैं? ऐहिक और पारलौकिक उन्नतिमें सबसे पीछे रहनेका क्या कारण है? जो आर्योंका संघ सब देशोंका गुरु था, वह ही आज अन्योंका शिष्य क्यों हो रहा है? जिनका अधिकार दूसरोंको मार्ग बतानेका था, वे ही स्वयं क्यों गिर रहे हैं? इत्यादि प्रश्न विचार करनेके समय मनोभूमीमें खडे होते हैं।

वहही भारतभूमी आज है, वह ही जलवायु इस समय विद्यमान है, वेही पहाड और नद आजभी उपस्थित हैं, वेही वृक्ष वनस्पतियां आज फलफूल दे रहीं हैं, वेही सूर्य और चंद्र आजभी वैसाही प्रकाश दे रहे हैं, परंतु आर्योंके मनमें इस समय वैदिक विचार नहीं रहे, मनकी अवस्था बदलनेके कारण सब बाहेरकी अवस्थाभी भिन्न प्रतीत होने लगी है। **मनकी अवस्थापरही सब जगत् रहता है।** जैसा मन होता है वैसाही जगत् दिखाई देता है। **मनके कारणही मनुष्य स्वतंत्र और परतंत्र बनते हैं।** मनमें जैसी भावना होगी वैसी सब व्यवस्था बन जाती है। इसलिये विचार करना है कि, वैदिक धर्मके तत्व किस प्रकारके हैं और आजकलके विचार कैसे हो गये हैं।

मनुष्यमें **'विचार, उच्चार और आचार'** की समता रहती है। जैसे जिसके विचार, वैसा उसका भाषण होता है और वैसाही उसका व्यवहार होता है। भावना और सिद्धिका इतना घनिष्ट संबंध है। इसलिये योगशास्त्रमें कहा है कि **"मनुष्य जैसी भावना करेगा वैसी उसको सिद्धि प्राप्त होगी।"** अथवा मनुष्यकी वर्तमान अवस्थासेभी उसकी भूतकालीन भावनाका पता लगाया जा सकता है।

मनुष्यका मस्तिष्क (दिमाग) जैसा होगा, वैसाही मनुष्य बन जाता है। जिसकी बुद्धिमें सुविचार और उन्नतिकी कल्पनाएं होतीं हैं, वहही मनुष्य श्रेष्ठ बन जाता है। परंतु जो सदा कुत्सित कल्पनाओंमें अपनी आयु व्यर्थ खर्च करता है, वह निःसंदेह गिर जाता है। जो मनुष्य पूजनीय और श्रेष्ठ बने हैं, और प्राचीन कालमें वंदनीय बने थे, उनके विचार

ही श्रेष्ठ थे । तात्पर्य श्रेष्ठ विचारोंके विना मनुष्यकी उच्च गति होनी नहीं है । जिसके मस्तिष्कमें श्रेष्ठ कल्पना, उच्च ख्यालात अथवा प्रतिभासंपन्न विचार चलते हैं; वहही मनुष्य अपना कल्याण कर सकता है, और दूसरोंकाभी मार्गदर्शक हो सकता है । अर्थात् शरीर मनुष्य नहीं है, 'मनन' अर्थात् 'विचार' ही मनुष्य है ।

एक मनुष्यके अंदर थोडेसे विचार होते हैं । अनेक विचारी मनुष्योंके विचार मिलकर राष्ट्रका और जातिका मस्तक बन जाता है । इन तत्वज्ञानियोंके विचार जिसप्रकार होते हैं, उसीप्रकार उस जाति, देश अथवा राष्ट्रके विचार, आचार और व्यवहार होते हैं । जो नियम एक मनुष्यकी उन्नतिके लिये है, वह ही नियम मनुष्यसमाजकी उन्नतिके लिये है । व्यष्टि-समष्टि, व्यक्ति और समाज, पिंड और ब्रह्मांडमें एकही अटल नियम कार्य कर रहा है । जिस भावनाके धारण करनेसे एक मनुष्य उन्नत हो सकता है, उसी प्रकारकी विस्तृत भावना धारण करनेसे राष्ट्रका अभ्युदय हो सकता है ।

जिस प्रकार शरीरमें सब अवयव मनकी आज्ञा मानते हैं, उसी प्रकार राष्ट्रमें सब अज्ञ जनता तत्वज्ञानियोंके विचारोंके समान अपना आचरण करती है । इसीलिये राष्ट्रकी उन्नति और अवनति राष्ट्रके तत्वज्ञानी, विद्वान, उपदेशक गुरुजनोंके सुविचारों और कुविचारोंपर अवलंबित रहती है । अवनत राष्ट्रके भूतकालमें आप देखेंगे, तो आपको कुविचारोंका समय दिखाई देगा; और उन्नत जातिके भूत समयमें आपको श्रेष्ठ विचारोंकी जागृति दीखेगी । इसीलिये उन्नति प्राप्त करनेके लिये, तथा प्राप्त अभ्युदयका संरक्षण करनेके लिये, सदा ही श्रेष्ठ तत्वज्ञानका आश्रय करना चाहिए ।

सब लोग उस मनुष्यको पागल और मूढ कहते हैं कि जिसका मस्तक अथवा जिसका विचार बिगडा होता है । कभी यह हो नहीं सकता, कि विचार अच्छे हों, और उसको पागल समझा जावे । वही बात राष्ट्रमें है । वही राष्ट्र और वही जाति गिर जाती है, कि जो हीन विचारोंका आश्रय करती है । उत्तम श्रेष्ठ विचारोंके साथ प्रगति करनेवाली जनता कभी गिर

नहीं सकती। यह अटल नियम है। हरएक मनुष्यको अपनी उन्नति और अवनतिका विचार इसी रीतिसे करना चाहिए। तथा राष्ट्रीय उत्कर्ष अपकर्षका विचारभी इसी दृष्टिसे हो सकता है।

वैदिक आर्योंका उत्कर्ष क्यों था? और आज उनकी संतानोंका अपकर्ष क्यों है? इसका पता उक्त विचारसेही लग सकता है। जबतक "वैदिक तत्व-ज्ञान" आर्योंमें जागृत था तबतक उनका अभ्युदय होता रहा; परंतु जबसे उनके वंशज वैदिक सुविचारोंसे दूर होगये, तबसे उनका र्‍हास होगया। यह वृत्तांत इतिहासमें भी सुप्रसिद्ध है और तर्कसेभी जाना जा सकता है।

"उत्साही तत्वज्ञान"से उन्नति और "निरुत्साही तत्वज्ञान" से अवनति होती है। आजकल दो प्रकारका तत्वज्ञान जनतामें चला है। सब जगत्के तत्वज्ञानका विचार करनेसे उसके पूर्वोक्त दोही भेद प्रतीत होते हैं। एक तत्वज्ञानसे गुण ग्रहण करनेकी शक्ति बढती है; और दूसरेसे दोष देखनेकी प्रवृत्ति होती है।

उदाहरणके लिये हम गौ और घोडेका विचार करते हैं। एक तत्वज्ञानी कहता है कि (१) गायकी पीठपर बैठकर प्रवास नहीं किया जाता, इसलिये गाय निकम्मा जानवर है, तथा (२) घोडा दूध नहीं देता इसलिये घोडा भी निकम्मा है। इस दोषदृष्टिसे न केवल येही दोनों पशु, परंतु सबही जगत निरुपयोगी ठहरता है। बुद्धके तत्वज्ञानने इस दोषदृष्टिका प्रचार अधिक किया। सब जगत् कष्टरूप है, दुःख, क्लेश, हानि, रोग, मृत्यु, वृद्धपन, गिरावट, शत्रु, युद्ध आदि सब बुरेही बुरे भाव जगत्में हैं, यह बुद्धधर्मका कहना था। दोषदृष्टिके जितने तत्वज्ञान इस जगत्में इस समय चलरहे हैं, सबके सब इसी एक प्रकारमें समाविष्ट होते हैं।

परंतु इससे सर्वथा भिन्न दूसरा एक तत्वज्ञान है वह गाय और घोडेकी ओर भिन्न दृष्टिसे देखता है। वह कहता है, कि (१) गायका दूध अच्छा होता है, इसलिये गायको पास करो और (२) घोडेपर सवार हो सकते हैं इसलिये घोडा भी पास रखो, ये दोनों पशु लाभदायक, अतएव मनुष्यके लिये हितकारक हैं। इस 'गुणग्राहक दृष्टिसे सब

जगत् मानवी उन्नतिका साधक प्रतीत होता है।' वेदके तत्वज्ञानकी यही दृष्टि है। तथा गुणग्राहक जितना तत्वज्ञान इस भूमंडलपर आजकल प्रचलित है सब इस विभागमें समाविष्ट होता है।

जगत् पूर्ण (Perfect) है और जीवोंकी उन्नतिके लिये जैसा चाहिए वैसा है, जगत् अभ्युदयका मुख्य साधन है, तथा अपने निजरूपसे घातक नहीं है, यह वैदिक तत्वज्ञानकी दृष्टि है। परंतु आजकल ऐसा तत्वज्ञान चला है, कि जिसके विचारसे जगत् बंधनकारक, अपूर्ण, घातक, परतंत्रका कारण, समझा जाता है। कई कहते हैं, कि जगत् भ्रमरूप है, वह है ही नहीं, जगत् उत्पन्न हुआ ही नहीं, जगत् स्वप्नरूप है, मायाका मोह ही जगत् है, सब नश्वर और नाशरूप है।

जगत्के पास देखनेकी दृष्टि इसप्रकार भिन्न है। इस भिन्न दृष्टिका परिणाम भी भिन्न होता है। आज इस लेखमें "वैदिक तत्वज्ञानकी दृष्टि" और "अन्य तत्वज्ञानकी दृष्टि" कितनी भिन्न है, इसका विचार करना है। देखिए—

पूर्णात्पूर्णमुदचति पूर्णं पूर्णेन सिच्यते ॥
उतो तदद्य विद्याम यतस्तत्परिषिच्यते ॥

अथर्व. १०।८।२९

"(१) पूर्ण परमेश्वरसे पूर्ण जगत्का उदय होता है, (२) इस पूर्ण जगत्को वह पूर्ण परमेश्वर जीवन देता है, (३) इस लिये इस जगत्के उस मूल आधारको जानेंगे कि जहांसे इसको जीवन प्राप्त हो रहा है।"

परमेश्वर माली है, और जगत् एक विशाल उद्यान है। माली इस उद्यानको पानीका सिंचन करता है, और उस अपने जीवनद्वारा इस जगद्रूपी बगीचेको सदा प्रफुल्लित रखता है। इसलिये उस उत्तम बागवानका हम दर्शन करेंगे, कि जिसने यह सर्वोत्तम बाग लगाया है, जिसके कि हम सब मधुर फल खा रहे हैं। यही भाव बृहदारण्यकके मंत्रमें है—

पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते ॥
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

बृह. उ. ५।१

"(१) परमेश्वर पूर्ण है, (२) यह जगत् पूर्ण है, क्यों कि (३) उस पूर्ण परमेश्वरसे इस पूर्ण जगत्का उदय होता है। (४) पूर्णके पूर्णको लेनेपर मूलमें पूर्ण ही अवशेष रहता है।"

तात्पर्य वैदिक तत्वज्ञानकी दृष्टि वेदमंत्रोंसे उपनिषद्के वचनों तक एक जैसी रही है। जबतक यह विचार आर्योंमें जीवित और जागृत था, तब-तक उनके अंदर 'जगत् पूर्णता-वाद' प्रचलित था। उनकी विचारसरणी निम्न प्रकार थी—

प्रश्न—परमेश्वर कैसा है ?
उत्तर—पूर्ण है ।
प्र०—जगत् कैसा है ?
उ०—पूर्ण है ।
प्र०—क्यों ?

उ०—इसलिये कि पूर्ण परमेश्वरने इस जगत्की उत्पत्ति की है। परमेश्वर पूर्ण होनेके कारण वह अपूर्ण उत्पन्न नहीं कर सकता। वह पदार्थोंको वैसा ही उत्पन्न करेगा कि जैसे वे होने चाहिए।

प्र०—जगत्में परमेश्वरसे पूर्णता आनेके पश्चात् परमेश्वर अपूर्ण हो जायगा, क्यों कि जो पूर्णता उसमें थी, वह जगत्में आ चुकी है !

उ०—नहीं ! ऐसा नहीं होता क्यों कि, पूर्णकी पूर्णता लेने पर पूर्णमें पूर्ण ही पूर्णता रहती है। देखिए। एक गुरुसे पूर्ण विद्या शिष्यके प्राप्त करने पर भी गुरुमें वह विद्या पूर्ण ही रहती है।

यह वैदिक विचारपद्धति है। जबतक आर्योंमें इस प्रकारकी विचार-परंपरा रही थी, तबतक आर्य लोक सर्वत्र विजयी और यशस्वी होते थे। क्यों कि "जगत्पूर्णता-वाद" उनके मनमें और आचरणमें रहता था। परंतु यह शुद्ध उत्साही तत्वज्ञान आर्योंके अंतःकरणसे अस्तंगत हो गया,

और इससे भिन्न विचार उनमें प्रचलित होगये । अबका तत्वज्ञान निम्न प्रकार है.—

प्रश्न—जगत् कैसा है ?

उत्तर—जगत् है कहां ? यह जो दीखता है, सब भ्रम है, यह सब मायामोह है । स्वप्नवत् ही सब है ।

प्र०—जगत् है वा नहीं ?

उ —यही तो कहा नहीं जा सकता ! न कहेंगे तो है ऐसा प्रतीत होता है; और है ऐसा कहेंगे तो भ्रमसा मालूम होता है । इसलिये यह जगत् है भी नहीं और नहीं भी नहीं !

प्र०—यह जगत् उत्पन्न हुआ भी है ?

उ०—कौन कहता है ?

इस प्रकारका तत्वज्ञान आजकल लोगोंमें प्रचलित है । धर्मके दो अंग हैं । (१) एक **अभ्युदय** और (२) दूसरा **निश्रेयस** । जगत्पूर्णता वाद माननेपर ही अभ्युदयरूप धर्मका पालन हो सकता है । जगद्भ्रमवाद माननेपर अभ्युदयरूप धर्मकी जडपर ही कुठार चलती है । यही कारण है कि जिससे आर्योंके वंशजोंमें अभ्युदयरूप धर्मके विषयमें अत्यंत उदासीनता दिखाई दे रही है । जो लोग तत्वज्ञानकी दृष्टिसे जगत्को घातक, बाधक, प्रतिबंधक, भ्रांतिमय, कष्टरूप समझेंगे, वे उस जगत्में रहकर अभ्युदयरूप धर्मका पालन करके दक्षतासे अपनी उन्नतिका साधन करेंगे, ऐसा नहीं हो सकता । वे सदा उदासीन, निरुत्साही, और जेलखानेमें रहनेके समानही रहेंगे । क्यों कि इस प्रकारके भ्रांतिमय तत्वज्ञानका यही परिणाम है । दूसरा इसका परिणाम हो ही नहीं सकता । क्योंकी "जैसी भावना रखी जाती है, वैसी ही सिद्धि होती है ।"

कई लोग यहां पूछेंगे कि, जगत् पूर्णतावाद माननेसे जडवाद (Materialism) प्रबल होगा । परंतु यह सत्य नहीं है । क्योंकि हम देखते हैं कि यदि किसी प्रदर्शनीमें अच्छी मूर्ति हम देखते हैं, तो पहिला प्रश्न उत्पन्न होता है, कि यह मूर्ति किसकी बनाई है ? अर्थात् मूर्तिकी

सुंदरता देखनेसे मूर्तिकारका ज्ञान प्राप्त करनेकी आतुरता बढती है। यदि मूर्तिका कौशल्य किसीको विदित ही न हुआ, तो वह मूर्तिकारका पताभी नहीं पूछेगा। यही बात जगत् के विषयमें है। जो मनुष्य जगत्‌में पूर्णता, उपयुक्तता, और कौशल्यका अनुभव करता है, वह ही जगदुत्पादकका विचार करेगा। परंतु जो जगत्‌में दुःखही दुःख देखेगा, वह कहेगा, कि इस अनर्थकारक भयानक जेलखानेको बनानेवाला दुष्टही होगा अथवा कोई भी नहीं होगा। बुद्ध धर्मकी नास्तिकताका यही मूल कारण है। जगत्‌को दुःखमय माननेके कारण दुःखका मूल कारण दयामय परमेश्वर मानना सर्वथा असंभव है। इसलिये बुद्ध धर्मको परमेश्वर न मानकर "धार्मिक अ-राजकता" मानना ही आवश्यक हुआ!!!

परंतु वैदिक धर्ममें "जगत्पूर्णता-वाद" होनेके कारण "पूर्ण जगत् को उत्पन्न करनेवाला परमेश्वर निःसंदेह दयालु और परिपूर्णही चाहिए" यही वैदिक धर्म-तत्वका परिणाम हुआ है। इसीलिये वैदिक धर्ममें निरीश्वर वाद तथा अराजकताके मतोंका सांप्रदाय कभी उत्पन्न हुआ ही नहीं। और जबतक वैदिक धर्म जीवित और जागृत रहेगा, तबतक ऐसे मत प्रचलित हो ही नहीं सकते। अर्थात् "जगत्पूर्णता-वाद" से जडवाद (Materialism) उत्पन्न नहीं होता, परंतु "दुःखमय जगत्" की कल्पनासे ही निरीश्वरताका मत उत्पन्न हो सकता है।

"जडवाद" का परिणाम दूसरोंको दुःख देकर अपना सुख बढानेमें होता है। जो युरोपमें दिखाई देता है। सब जगत्‌की अस्वस्थता और अशांतिका कारण युरोपके जडवादमें ही है। जबतक वहां वैदिक धर्मका "सम-विकास-वाद" नहीं प्रचलित होगा 'तबतक वहां तथा सब जगत्‌में अशांति रहेगी, और प्रतिदिन बढती ही जायगी। केवल "अध्यात्मवाद" (Spiritualism) का परिणाम आधिभौतिक उदासीनतामें होता है, जो भारतवर्षमें इस समय दिखाई देता है। ऐहिक उत्कर्ष और अपकर्षका विचार करनेकी ओर पूर्ण उदासीनता इसीकारण यहां है। जबतक वैदिक धर्मकी जागृति यहां न होगी, तबतक यही उदासीनता यहां रहेगी इसमें कोई संदेह नहीं है।

इसीलिये वैदिक धर्ममें "समविकास" का महत्त्व वर्णन किया है। जो जगद्विद्या और आत्मविद्याको साथ साथ जानता है, वह प्रकृतिविद्यासे मृत्युका भय दूर करके आत्मविद्यासे अमर होता है। (यजु० ४०।१४)" यह वेदका उपदेश यहां देखना उचित है। प्रकृतिविद्या और आत्मविद्याका इसप्रकार अभेद संबंध होनेसे दोनोंके दोष हट जाते हैं, और दोनोंके लाभ ही प्राप्त होते हैं। तात्पर्य वेदके उपदेशके अनुसार "जगत्पूर्णता-वाद" से किसीप्रकार हानि नहीं हो सकती, तथा अध्यात्मवादका विकास इसीसे हो सकता है। जडवादी लोग भोग प्रधान जीवन व्यतीत करते हैं, इसलिये जहां जडवाद होता है, वहां भोगी लोग होते हैं। भोगोंसे रोग बढते हैं, स्वार्थके कारण कलह बढ जाते हैं, और सदा क्लेश ही बढते हैं। इसको दूर करनेके लिये वेदका उपदेश है कि—

त्यक्तेन भुंजीथाः। मा गृधः।
कस्य स्विद्धनम्? यजु. ४०।१

"(१) दानसे भोग करो, (२) लालच न करो, (३) भला किसका धन है?" इस प्रकार वेदका सब कथन एक दूसरेके साथ उत्तम प्रकारसे सुसंगत है। इस उपदेशको दूर करनेसे ही महा अनर्थ हो रहे हैं। जबतक शुद्ध वैदिक उपदेश था, तब कोई दोष आर्य जनतामें न था। परंतु उक्त विचार दूर होनेसे ही सब दोष बढ रहे हैं।

जो प्रकार बाह्य जगत्के विषयमें है, वह ही अपने शरीरके विषयमें है। शरीरकी ओर किस दृष्टिसे देखना, और किस दृष्टिसे न देखना, इसका अब विचार करेंगे। वेदमें शरीरका स्वरूप निम्न प्रकार वर्णन किया है—

सप्त ऋषयः प्रति हिताः शरीरे सप्त रक्षंति सदमप्रमादम्॥
सप्तापः स्वपतो लोकमीयुस्तत्र जागृतो अस्वप्नजौ सत्र-सदौ च देवौ॥ यजु. ३४।५५

"(१) प्रत्येक शरीरमें सात ऋषि हैं, (२) इस आश्रमका रक्षण वे उत्तम प्रकारसे करते हैं, (३) जब वे विश्रांति लेनेके लिये सो जाते हैं,

तब तक उनके स्थानमें सातों नदियोंका संयोग होता है, (४) उस समय न सोनेवाले और इस आश्रममें सतत जागनेवाले दो देव सदा जागते रहते हैं।"

इस मंत्रमें शरीरका वर्णन किया है। दो कान, दो आंख, दो नाक और एक मुख मिलकर सात ऋषि हैं। इन ज्ञान इंद्रियोंके प्रवाहोंको ही सात नदियां कहा है। श्वास और उच्छ्वास ये दो देव हैं, कि जो कभी नहीं सोते हैं और जन्मसे मरणपर्यंत जागृत रहते हुए इस आश्रमका संरक्षण करते हैं। इस मंत्रमें बडा भारी योगविषयक तत्वज्ञान है, जिसका वर्णन किसी अन्य प्रसंगमें किया जायगा। यहां देहविषयक निम्न बातें

(१) देह सप्त ऋषियोंका आश्रम है।
(२) यहां सप्तऋषि तप कर रहे हैं।
(३) दो देव यहां जागते हैं।
(४) यह शरीर देवोंका मंदिर है।

अपने शरीरको ऋषियोंका पवित्र आश्रम बनानेकी सूचना यहां मिलती है, तथा इसको देवताओंका पवित्र मंदिर बनानेकी कल्पना भी यहां स्पष्ट है। यही भाव निम्न मंत्रमें है—

तिर्यग्बिलश्चमस ऊर्ध्वबुध्नस्तस्मिन्यशो निहितं विश्वरूपम्॥
तत्रासत ऋषयः सप्त साकं ये अस्य गोपा महतो बभूवुः॥
अथर्व. १०।८।९

"(१) एक तिरछे मुखवाला उलटा लोटा है, (२) उसमें सब प्रकारका यश भरा है, (३) उसमें सात ऋषि साथ साथ बैठे हैं, (४) जो इस महान यज्ञके संरक्षक हैं।"

पूर्वोक्त भाव ही इसमें भिन्न रूपकसे वर्णन किया है। (१) मनुष्यका सिर लोटेके समान ही है. (२)उसका मुख तिरछा है, सीधा नहीं है, (३) उसमें मस्तिष्क (दिमाग) ही विलक्षण यश है, (४) इसमें पूर्वोक्त सात ऋषि तप कर रहे हैं, और (५) ये ही इसका उत्तम संरक्षण करते रहते हैं।

अपने शरीरके विषयमें वेदकी कल्पना उक्त प्रकार है। वेद कहता है,

कि अपने शरीरको ऋषिमुनियोंका पवित्र आश्रम मानो, और इस शरीरको देवताओंका पवित्र मंदीर समझो। तथा सौ वर्ष चलनेवाला सत्र अर्थात् महान यज्ञ चल रहा है, ऐसी कल्पना करो, सात नदियोंका पवित्र संगम यहां ही है, ऐसा मानो। यह वेदकी कल्पना है। परंतु आजकलके तत्वज्ञानमें कहा जाता है, कि यह शरीर "पूय-विण्मूत्र का गोला" है; अर्थात् "पीप, विष्ठा मूत का यह गढा" है। कहां वैदिक कल्पना और कहां आजकलकी कल्पना!!! जमीन आस्मानसे भी दूरका अंतर है!! चमडेकी बोरीमें खून, हड्डी, मांस, आदि पदार्थ भरे रखे हैं!! यह आजकलका तत्वज्ञान कह रहा है! विष्ठामूत्रका गढा हो अथवा हड्डी मांसका कीचड हो, किसी भी कल्पनासे पवित्रता नहीं बढ सकती, परंतु उदासीनताही हो सकती है।

ऋषियोंके आश्रममें और देवताओंके मंदिरमें पवित्रताके कारण मनुष्य अधिक देरतक बैठने और रहनेका यत्न कर सकता है। क्योंकि वहां रमणीयता, उच्चता और प्रसन्नताका अभेद संबंध है। जिस समयतक यही वैदिक तत्वज्ञान आर्योंमें था, तबतक आर्योंमें दीर्घ आयुष्य प्राप्त करनेकी महत्वाकांक्षा थी। डेढसौ वर्षोंसे भी अधिक आयु प्राप्त करनेका परमपुरुषार्थ ऋषि मुनि प्राचीन वैदिक कालमें करते थे, इसका यही हेतु है।

परंतु अबका तत्वज्ञान भिन्न हुआ है। शरीरको विष्ठाका गढा माना गया है, पाखाना रूप शरीर होनेसे, विष्ठाके दुर्गंधरूप कीचड के पास कौन रहनेकी इच्छा करेगा। हरएक मनुष्य विष्ठाके गढेसे शीघ्र भागनेकाही यत्न करेगा। क्योंकि पीप, विष्ठा, मूत्र आदिके दुर्गंधमें कौन रहेगा। इसीलिये "जगत्‌की क्षण-भंगुरता" की कल्पना प्रचलित होगई। "दो दिनका शरीर और क्षणभरकी जिंदगी" आज पर्याप्त हो रही है, जो वैदिक कालमें—

भूयश्च शरदः शतात्॥

यजु० ३६।२४

"सौ वर्षसे भी अधिक जीवनकी प्रबल इच्छा थी," वह नष्ट होगई, और शरीर शीघ्र छोडनेकी आतुरता बढगई, शरीरकी घृणा आनेसे उदासीनता बढगई और शारीरिक स्वास्थ्यके विषयमें उदासीनता होगई है।

इसी विचारका परिणाम आजकलकी अल्पायुता है। "जैसी भावना रखी जायगी वैसाही फल मिलेगा!"

अपने आयुष्यको परम यज्ञ मानना, सौ वर्ष चलनेवाला शतक्रतु रूप जीवन व्यतीत करना, अपने आपको अपराजित इंद्र समझना, अपनी आत्मशक्तियोंका विकास सब इंद्रियोंमें देखना, अपनी निज शक्तियोंका विकास करना, अपने मनकी प्रभुता संपादन करके, अपनी दिव्यशक्तिका आत्मिक भूमिकापर अनुभव लेना, अपनी आयुष्यकी वृद्धि करके, पूर्ण दीर्घ आयुष्यका उपभोग लेते हुए, अपनी और समाजकी उन्नति साधन करनेमें अपनी शक्तियोंकी पराकाष्ठा करना; आदि वैदिक भाव सब प्रकार-से लुप्त होगये हैं; और वहां सब उदासीनताके निरुत्साही भाव आगये हैं। भजनों और उपदेशोंमें, प्रवचनों और व्याख्यानोंमें, लेखों और ग्रंथों-द्वारा आजकल उदासीनता जनताके मनमें वारंवार डाली जाती है। पाठ-कोंको उचित है, कि वे निःपक्षपातसे इस बातको सोचें और वैदिक तत्व-ज्ञानकी जागृति करके अपने और राष्ट्रके उद्धारका यत्न करके इह परलो-कमें वंदनीय बनें।

उक्त वैदिक तत्वज्ञानके कारण ही शरीरको रोगरहित, सुदृढ और दीर्घायुसे संपन्न करना वेदको आवश्यक प्रतीत हुआ। इसीलिये वेदमें कहा है—

वाङ्म आसन्नसोः प्राणश्चक्षुरक्ष्णोः श्रोत्रं कर्णयोः ॥
अपलिताः केशा अशोणा दंता बहु बाह्वोर्बलम् ॥
ऊर्वोरोजो जंघयोर्जवः पादयोः प्रतिष्ठा ॥
अरिष्टानि मे सर्वात्माऽनिभृष्टः ॥ ६० ॥
तनूस्तन्वा मे सहे दतः सर्वमायुरशीय ॥
स्योनं मे सीद पुरुः पृणस्व पवमानः स्वर्गे ॥ ६१ ॥
प्रियं मा कृणु देवेषु प्रियं राजसु मा कृणु ॥
प्रियं सर्वस्य पश्यत उत शूद्र उतार्ये ॥ ६२ ॥

अथर्व. १९।६०-६२

व्यक्तिधर्म-(१) मुखमें उत्तम वक्तृत्वशक्ति, (२) नासिकामें प्रबल प्राणशक्ति, (३) नेत्रमें उत्तम दृष्टि, (४) कर्णमें उत्तम श्रवणशक्ति, दीर्घ

आयुकी समाप्ति तक रहे। (५) बाल सफेद न हों, (६) दांतोंपर मलीनता न रहे, (७) बाहुओंमें बहुत बल आ जावे, (८) ऊरुओंमें शक्ति, (९) जंघाओंमें वेग, (१०) पाओंमें दृढता रहे। (११) सर्व शरीर नीरोग और हृष्ट पुष्ट होवे, (१२) आत्मिक शक्तिका उत्साह वृद्धिंगत होता रहे। (१३) शरीरमें सहनशक्ति निवास करे, (१४) मुझे दीर्घ आयु प्राप्त होवे। (१५) चित्त प्रसन्न रहे, (१६) नित्य उन्नति प्राप्त होवे, (१७) मैं पवित्र होकर उत्तम वर्गमें संमिलित हो जाऊंगा।

इस प्रकार व्यक्ति धर्म ६०।६१ सूक्तोंमें कहा है। उक्त मंत्र स्पष्ट हैं, इस लिये इनकी अधिक व्याख्या करनेकी कोई आवश्यकता नहीं है। शारीरिक उन्नतिके विषयमें सब आवश्यक बातें इन मंत्रोंमें कहीं हैं। इनका विचार पाठकोंको करना उचित है और साथ साथ आजकलका उत्साहहीन व्यवहार भी देखना उचित है। अब सार्वजनिक धर्मके विषयमें ६२ वे सूक्तका मंत्र देखना है—

सार्वजनिक धर्म— ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य और शूद्रोंमें मैं प्रिय हो जाऊंगा। अर्थात् मैं ऐसे कार्य करूंगा कि जिससे सब लोग मेरे ऊपर प्रीति करने लगेंगे। सब जनतामें प्रिय होनेकी सूचना इस मंत्रद्वारा दी है। जनताके हितके कार्य करनेसे मनुष्य लोकप्रिय होता है।

तात्पर्य इतनाही है, कि मनुष्यको अपनी व्यक्तिकी उन्नतिका साधन करना चाहिए, उसीप्रकार सामाजिक अथवा राष्ट्रीय उन्नतिका भी साधन करना चाहिए। सार्वजनिक कार्यसे पीछे हटना अधर्म है। हरएक मनुष्यको अपनी उन्नतिके साथ राष्ट्रकी उन्नतिका साधन अवश्य करना चाहिए। हरएक मनुष्य अपनी उन्नति करनेके लिये स्वतंत्र है, परंतु राष्ट्रकी उन्नति साधन करनेके लिये परतंत्र है। राष्ट्रीय उन्नतिके साथ अपनी उन्नतिका साधन करना चाहिए। यही वैदिक आशय है। परंतु सार्वजनिक कर्तव्यका वैदिकधर्मका मुख्य भाग आजकल प्रायः लुप्त होनेसे आर्य वंशजोंकी अवनति होगई है

वैदिक धर्मकी दृष्टिसे व्यक्ति और समाजका अटूट संबंध है। व्यक्तिकी उन्नतिकी इति-कर्तव्यता सामाजिक और राष्ट्रीय अभ्युदयमें है। जनताका

हित साधन करनेके लिये व्यक्तिकी आहुति अर्पण होना चाहिए। जहां यह भाव नहीं होता, वहां किसी प्रकार भी विकास नहीं हो सकता।

परंतु आजकल कई कहते हैं, कि बडी देरतक जीवित रहकर क्या करना है? जनताके सुखदुःखका विचार हमें क्यों करना चाहिए? नश्वर जगतके पीछे हम क्यों लगें? अन्य मनुष्य अपना सुख दुःख देख सकते हैं, हमें क्यों उनकी फिकिर करनी चाहिए? इत्यादि विचारोंकी प्रबलता होनेसे आर्य संतानोंमें गिरावटका प्रारंभ होगया है। हरएक मनुष्यके जीवनमें जैसा व्यक्तिका अभ्युदय वैसाही सामाजिक विकासका भाव अवश्य रहना चाहिए। "मैं और समाज" एक ही हैं। समाजका मैं एक अवयव हूं, इसलिये मैं समाजकी उन्नतिके लिये अपनी पराकाष्ठा करूंगा। यह वैदिक भाव है। जबसे यह सार्वजनिक भाव आर्योंके अंतःकरणोंसे हट गया, तबसे आर्योंकी अवनति शुरू हो गई है। वेदमें जनताके अभ्युदयकी निश्चित कल्पना बतानेवाले सेकडों मंत्र हैं। उदाहरणके लिये एक मंत्र देखिए—

भद्रमिच्छंत ऋषयः स्वर्विदस्तपो दीक्षामुपसेदुरग्रे ॥
ततो राष्ट्रं बलमोजश्च जातं तदस्मै देवा उप सं नमन्तु ॥

अथर्व. १९।४१।१

"सब जनताके कल्याणकी इच्छा करनेवाले आत्मज्ञानी ऋषि तप और दीक्षा करते हैं, जिससे राष्ट्र, बल, और ओज उत्पन्न होता है। इसलिये देव इस राष्ट्रको नमन करें।"

(१) ऋषियोंके तपसे "राष्ट्रीय भावना" की उत्पत्ति होती है, (२) राष्ट्रीय भावनासे बल और शक्ति बढती है, इस लिये (३) राष्ट्रीय भावनाके सन्मुख सब नमन करें। ये तीन उपदेश वैदिक सार्वजनिक भावका उत्तम प्रदर्शन कर रहे हैं। ऋषियोंके प्रयत्नसे राष्ट्रीयता और जातीयताकी उत्पत्ति होती है। राष्ट्रीयताके संवर्धनके लिये प्रयत्न करना ऋषिऋणसे मुक्त होनेके लिये हरएकको अत्यंत आवश्यक है। यह वैदिक व्यवहार है। परंतु इतनी राष्ट्रीय कर्तव्यकी आतुरता वैदिक कालके पश्चात् आर्योंमें नहीं रही। इसी कारण उनकी अधोगति हो गई। वैदिक

नियमोंको तोडनेसे कभी उन्नतिकी संभावना ही नहीं है। जहां वैदिक नियमोंका भंग होगा वहां अवनति अवश्य होगी। इसी लिये वैदिक धर्मकी जागृतिके लिये प्रयत्न होनेकी आवश्यकता है। जगत्का सुधार इसीसे होना है। तथा—

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः॥
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे॥

यजु. ४०।२

पश्येम शरदः शतं जीवेम शरदः शतं
शृणुयाम शरदः शतं प्रब्रवाम शरदः शतं
अदीनाः स्याम शरदः शतं भूयश्च शरदः शतात्।

यजु. ३६।२४

(१) पुरुषार्थ प्रयत्न करते हुए यहां सौ वर्ष जीनेकी इच्छा धारण करनी चाहिए, (२) सौ वर्ष अथवा सौ वर्षोंसे भी अधिक आयु तक अपनी सब शक्तियोंको उन्नत रखना चाहिए।

यह वैदिक धर्मका उपदेश है। परंतु आजकल "क्षण-भंगुर संसार" कहा जाता है। "दो दिनकी जिंदगी" व्यतीत करना है, क्यों विशेष प्रयत्न किया जावे? आदि हताश होनेके भाव सर्वत्र फैले हैं। जब केवल "दो ही दिनकी जिंदगी" व्यतीत करना है, और "क्षणमें नाश होनेवाले जगत्" में क्षणमात्र रहना है, तो शतायुके परम पुरुषार्थकी आवश्यकता ही कहां है? इस प्रकार वैदिक धर्मकी भावना और आजकलके विचार, इनमें भयानक विरोध है। क्षणभंगुरताका वाद अवैदिक है। वेदमें यह वाद नहीं है। बौद्ध तत्त्वज्ञानमें इसका विशेष पुरस्कार हुआ है, जबसे वह आर्योंके वंशजोंके पास आया है तबसे सब आर्योंके विजयका नाश हो रहा है। जो जगत्को क्षणभंगुर मानते हैं, वे दीर्घ आयुके लिये भी क्यों प्रयत्न करेंगे? उनके लिये अल्प आयु ही अच्छी है। परंतु वैदिक धर्म जगत्की पूर्णता और प्रवाहरूपसे अनादि अनंतता मानता है, इसलिये दीर्घ आयु प्राप्त करना वैदिक धर्मके लिये अत्यंत आवश्यक है। इसीलिये वेदने कहा है—

मृत्योः पदं योपयंतो यदैत द्राघीय आयुः प्रतरं दधानाः ॥
आप्यायमानाः प्रजया धनेन शुद्धाः पूता भवत यज्ञियासः ॥२॥
इमं जीवेभ्यः परिधिं दधामि मैषां नु गादपरो अर्थमेतम् ॥
शतं जीवंतु शरदः पुरूचीरन्तर्मृत्युं दधतां पर्वतेन ॥ ४ ॥

ऋ. १०।१८

"(१) अपने ऊपर रखेहुए मृत्युके पांवको प्रयत्नसे दूर करो, (२) अपने आयुष्यको दीर्घ बनाकर धारण करो, (३) प्रजा और धनसे युक्त होकर उन्नत हो जाओ, तथा (४) शुद्ध पवित्र और पूजनीय बनो। (५) मनुष्योंके लिये सौ वर्षकी आयुष्यकी मर्यादा है, (६) कोई भी नीच बनकर इस आयुष्यरूपी धनको न खो देवे, (७) सौ वर्षकी दीर्घ आयुकी समाप्ति तक सब मनुष्य जीते रहें, और (८) मृत्युको पहाडके नीचे दबा देवें।"

दीर्घ आयुष्य प्राप्त करनेके विषयमें वेदका यह अत्यंत स्पष्ट और उत्साहपूर्ण उपदेश है। प्रत्येक मनुष्य दीर्घ आयुष्य, बलवान और नीरोग शरीर प्राप्त कर सकता है, यह उक्त मंत्रोंका स्पष्ट आशय है। आयुष्य बढाना और घटाना मनुष्यके आधीन है; यह वैदिक धर्मका तत्व है। परंतु आजकल समझा जाता है, कि मनुष्य जन्मते ही उसकी आयुका निश्चय ब्रह्मदेव करता है! जितनी आयु मनुष्यके सिरपर लिखी होती है; उतना ही वह जीता रहता है। हरएक मनुष्यकी आयु निश्चित होती है। न बढाई जाती और न घटाई जा सकती है। यह आजकलका पंगुवाद देखिए और उक्त मंत्रोंका उदात्त गंभीर और धैर्य देनेवाला वेदका उपदेश देखिए। वेद कहता है, कि आयु बढाई जा सकती है। वेदके उपदेशमें कोई किसी प्रकारका संदेह ही नहीं है। तथापि आजकल सर्वसाधारण लोग मानते ही हैं कि आयुका घटना बढना असंभव है। देखिए कि भावनामें कितना भेद है!!! यदि लोक आयुविषयक उक्त वैदिक नियमको जानेंगे, तो निःसंदेह भीष्माचार्यके समान आजके लोग भी दीर्घजीवी हो सकते हैं। वैदिक धर्मके अनुसार हरएक मनुष्य पुरुषार्थके साथ दीर्घ आयुष्य प्राप्त कर सकता है। प्रत्येक मनुष्यका यह निज अधिकार है। "न मरनेका निश्चय" करनेसे आयुष्य बढने लगता है। "इच्छा-मरण" के

नियम योगशास्त्रमें कहे हैं। उन नियमोंका पालन करनेसे दीर्घ आयुष्य निःसंदेह प्राप्त होता है। आज भी सौसे ऊपर आयु प्राप्त की जा सकती है इसमें कोई संदेह नहीं है। परंतु वैदिक धर्मका जीवन लोगोंमें पुनः स्थापित होना चाहिए।

इस प्रकार सब उलटे विचार और आचार प्रचलित हो चुके हैं। इसी कारण सब रुकावटें और दुःख हो रहे हैं। जैसी भावना मनमें रखेंगे वैसी ही फलप्राप्ति होगी, यह अटल सिद्धांत है। कोई इसको बदल नहीं सकता। हीन विचार धारण करनेसे कभी उन्नति नहीं हो सकती। इसी विषयमें एक बात यहां देखेंगे। वेदांत विषयका अध्ययन किस अवस्थामें प्रारंभ करना उचित है, इस विषयमें आजकलके ख्यालात और प्राचीन विचार यहां दिखाता हूं। श्री० उवट महीधर आदि आचार्य लिखते हैं—

> दध्यङ्ङाथर्वण ऋषिः स्वशिष्यं पुत्रं वा गर्भाधानादिभिः संस्कारैः संस्कृतशरीरं, अधीतवेदं, उत्पादितपुत्रं, यथाशक्ति अनुष्ठितयज्ञं अपापं निस्पृहं यमनियमवंतं अतिथिपूजापनीतकिल्बिषं मुमुक्षुमासन्नं शिक्षयन्नाह ॥
>
> यजु. उवटभाष्य ४०।१

> अधीतवेदं, जनितसुतं, यथाशक्तिकृतयज्ञं....
> शिष्यं पुत्रं वा ऋषिरुपदिशन्नाह ॥
>
> यजु. महीधरभाष्य. ४०।१

"पुत्र उत्पन्न करनेके पश्चात् ईशोपनिषद् अथवा यजु. अ. ४० पढनेका अधिकार है" ऐसा उक्त आचार्य प्रतिपादन कर रहे हैं। अर्थात् गृहस्थाश्रम समाप्तिके अनंतर वेदांतशास्त्र पढनेका अधिकार प्राप्त होता है, यह उक्त आचार्योंके कथनका तात्पर्य है। परंतु उक्त य. अ. ४० में दूसरे मंत्रमें ही कहा है, कि "इस संसारमें पुरुषार्थ करते हुए ही सौ वर्ष जीनेकी इच्छा करनी चाहिए।" अब पूछना यह है, कि पुत्र उत्पन्न करनेके पश्चात् उत्तर आयुमें इस ज्ञानकी क्या आवश्यकता है? सौ वर्ष जीनेकी इच्छा तो प्रारंभकी आयुमें ही योग्य हो सकती है। क्योंकि दीर्घ आयुष्यकी नींव ब्रह्मचर्यमें ही पूर्ण उत्साहके साथ डालनी चाहिए। गृहाश्रमकी समाप्तिके पश्चात् दीर्घ आयुकी कल्पनासे क्या लाभ हो सकता है?

इसके अतिरिक्त इस बातका अन्य रीतिसे भी विचार करना आवश्यक है। वेदांतज्ञानका फल ब्रह्मज्ञान है। इस ब्रह्मज्ञानका फल अथर्ववेदमें निम्न प्रकार कहा है-

यो वै तां ब्रह्मणो वेद अमृतेनावृतां पुरम् ॥
तस्मै ब्रह्म च ब्राह्माश्च चक्षुः प्राणं प्रजां ददुः ॥ २९ ॥
न वै तं चक्षुर्जहाति न प्राणो जरसः पुरा ॥
पुरं यो ब्रह्मणो वेद यस्याः पुरुष उच्यते ॥ ३० ॥

अथर्व. १०।२

(१) जो अमृतमय ब्रह्मकी नगरीको जानता है, उसको ब्रह्म तथा इतर देव चक्षु, प्राण और प्रजा देते हैं। (२) वृद्ध अवस्थासे पूर्व इसके इंद्रिय और प्राण इसको नहीं छोडते, जो ब्रह्मकी नगरीको जानता है!

ब्रह्म साक्षात्कार और ब्रह्मज्ञानका यह फल है। हृदयमें ब्रह्मकी नगरी है, वहां समाधिद्वारा जाना और पहुंचना संभव है। जो वहां जाता है, और वहांका अनुभव लेता है, उसको तीन बातें ब्रह्मकी कृपासे प्राप्त होतीं हैं (१) चक्षु आदि इंद्रियोंकी शक्तियां अत्यंत जीर्ण अवस्थाके पूर्व उसको नहीं छोडतीं, (२) उसकी जीवन शक्ति भी पूर्ण आयुकी समाप्ति तक उसके शरीरमें कार्य करती रहती है, तथा (३) उसको उत्तम प्रजा उत्पन्न होती है, ये तीन फल ब्रह्मज्ञानके हैं। दीर्घ आयुष्य, सबल इंद्रिय और सुप्रजा निर्माण ये तीन फल ब्रह्मज्ञानके हैं।

ब्रह्मज्ञानीको "सुप्रजा निर्माण करनेकी शक्ति" प्राप्त होती है। वेदांत ज्ञानका यह बल है। अर्थात् वेदांत ज्ञान अथवा ब्रह्मज्ञान गृहस्थाश्रमके पूर्व ही होना आवश्यक है। ब्रह्मचर्य आश्रमकी समाप्ति तक ब्रह्मज्ञान होना चाहिए; यह उक्त मंत्रोंका तात्पर्य है! अन्यथा "सु-प्रजा-निर्माण" करना उनके लिये वृद्ध अवस्थामें असंभव ही होगा। ब्रह्मज्ञानी ही सुप्रजा निर्माण कर सकता है। इसीलिये ब्रह्मज्ञान गृहस्थाश्रमके प्रारंभमें होना चाहिए। परंतु उक्त आचार्य कहते हैं; कि प्रजा उत्पन्न करनेके पश्चात् वेदांत पढना चाहिए; यदि ५० वे वर्ष वेदांतका अध्ययन प्रारंभ किया गया, तो ६०।७० वे वर्षकी अवस्थामें ब्रह्मज्ञान होना संभव है। उस अवस्थामें उसको सुप्रजा किस प्रकार प्राप्त हो सकती है?

बृहदारण्यक उपनिषदके प्रकरणोंमें ब्रह्मकी विद्या कहनेके पश्चात् अंतिम अध्यायमें "सुप्रजा-निर्माण" का उपदेश किया है। इसका तात्पर्य यही है, कि "वेदांत" शास्त्रका "सु-प्रजा-निर्माण" के साथ निकट संबंध है। उत्तम प्रकारसे ब्रह्मका ज्ञान जिसको अवगत है, वह ही उत्तम प्रजा उत्पन्न कर सकता है। जिस प्रकारका पुत्र वा पुत्री चाहिए, उस प्रकारके पुत्र और पुत्रीको उत्पन्न करना ब्रह्मज्ञानीको ही साध्य हो सकता है। साधारण मनुष्य कामोपभोगसे प्रवृत्त होगा और उसको विकारी संतान उत्पन्न हो सकती है। परंतु जो यमनियम पालन करनेवाला, योगाभ्यासमें प्रवीण और ब्रह्मका ज्ञान धारण करनेसे प्रसन्नात्मा होता है, उसके बीजसे ही श्रेष्ठ संतान उत्पन्न होना संभव है। इस कार्यके लिये वेदांत अर्थात् ब्रह्मज्ञानका पठनपाठन प्रारंभिक अवस्थासे ही होना चाहिए।

गुरुकुलमें आठ वर्षकी आयुमें प्रवेश होता है, उस अवस्थासे २५ अथवा ३० वर्षकी आयुतक आश्रमके यमनियममें एकनिष्ठासे रहनेसे और प्रतिदिन ब्रह्मतत्वका श्रवण मनन और निदिध्यासन करनेसे ब्रह्मचर्याश्रमकी समाप्तितक ब्रह्मज्ञान होना असंभव नहीं है। प्रतिदिन नियमपूर्वक योगाभ्यास करनेसे ४।५ वर्षमें समाधिकी सिद्धि होना संभव है। इस प्रकार ब्रह्मचर्याश्रमकी अवधिमें ब्रह्मज्ञान प्राप्त हो सकता है, और गृहस्थाश्रममें जाकर वह सुप्रजा निर्माण कर सकता है; तथा दीर्घायु आदि सब कुछ प्राप्त कर सकता है।

यह वैदिक अवस्था और व्यवस्था थी। परंतु आजकल वेद और वेदांत शास्त्र अथवा ब्रह्मविद्या "बुढ्ढोंकी पढाई" होगई है। श्री० महीधराचार्य भी इसको स्वसंमति देते हैं!!! इस कारण सब लोग ऐसा ही मानने लगे हैं। भ्रष्ट विचारोंकी संतान उत्पन्न होनेका यही कारण है। अल्पायु और निर्वीर्यताका यही हेतु है।

तात्पर्य "वैदिक धर्म" से विमुख होनेके कारण ही सब अवनति है। इसलिये वेदका पठन पाठन कीजिए, वेदके मंत्रोंका मनन कीजिए, वेदके सिद्धांतोंको मनमें धारण कीजिए, और सब प्रकारसे अपना जीवन ही वैदिक बनाइए। जिससे आप अपना निश्चयसे उद्धार कर सकेंगे और राष्ट्रका भी अभ्युदय कर सकेंगे।

स्वस्ति, शांति और अभय ।

वेदके मंत्रोंमें कई मंत्र स्वस्ति वाचनके हैं, कई शांतिपाठके हैं और कई अभयताके विषयमें हैं । संस्कारोंमें प्रायः उक्त तीनों प्रकारके मंत्र बोले जाते हैं । बहुत लोक स्वस्तिवाचन और शांतिपाठके मंत्र कंठभी करते हैं परंतु थोडेही सज्जन ऐसे हैं कि जिनको इन मंत्रोंका तत्व ज्ञात होता है ।

भक्तिसे मंत्रोंका पाठ करना और बात है, और तत्वज्ञानपूर्वक श्रद्धा और अर्थज्ञानके साथ सुस्वरतापूर्वक मंत्रोंका गायन करना और बात है । मंत्रपाठ करनेके विषयमें भी यह बात ध्यानमें रखनी उचित है कि सुस्वरतापूर्वक मंत्रोंका पठन होनेकी अत्यंत आवश्यकता है । कई लोग ऐसे कर्कश वाणीसे मंत्रोंका उच्चार करते हैं कि जिसके सुननेसे सुननेवालोंके मनमें वेदश्रवणके विषयमें प्रेम नहीं उत्पन्न हो सकता । जो वैदिक धर्मके प्रेमी हैं उनको उचित है कि वे प्रेमके साथ मधुर स्वरसे मन्त्रोंका गायन करें जिससे उनका चित्त प्रसन्न होगा और सुननेवालोंका भी हृदय गद्गदित हो जायगा । अस्तु ।

'स्वस्ति' शांति और अभय' का विचार करनेसे पूर्व यहां इन शब्दोंका भाव हम देखेंगे । 'स्वस्ति' का अर्थ-(सु) उत्तम रीतिसे (अस्ति) रहना, होना है । उत्तम प्रकारसे रहना सहना, उत्तम व्यवहार करना, अपना प्रतिदिनका व्यवहार उत्तम प्रकारसे करना इत्यादि प्रकार 'स्वस्ति' शब्दका भाव है । 'शांति' का भाव सब जानतेही हैं । शांतता, स्थिरता, चंचलताका अभाव, क्रूरताका नाश, विकारवश न होना, चित्तकी एकाग्रता, मनकी समता, तृप्ति, समाधान, सुरक्षितता इत्यादि प्रकारका आशय 'शांति' शब्दसे ध्वनित होता है । निर्भय होना, निडर बनना, भीतिको दूर करना, धीरताके साथ श्रेष्ठ कर्म करना आदिभाव 'अभय' से व्यक्त होते हैं ।

इन तीन शब्दोंके भाव देखनेसे स्पष्ट प्रतीत होता है कि ये तीनों अवस्थाएं मनुष्यकी उन्नतिके लिये आवश्यक हैं। यदि इनमेंसे एकका अभाव होगा तो अभ्युदयमें और निश्रेयसमें विघात होगा।

देखिए। एक मनुष्य है उसका मन निर्भय नहीं है। उसके मनमें सदा किसी न किसी विषयमें डर रहता ही है। इस प्रकारका डरपोक मनुष्य सनातन वैदिकधर्मका अवलंबन नहीं कर सकता। क्योंकि सनातन वैदिक धर्मके दस लक्षणोंमें पहिला और सबसे मुख्य लक्षण 'धृति' है अर्थात् धर्मका पालन धैर्यके विना नहीं हो सकता। धैर्यके विना उत्तम ब्राह्मण नहीं बन सकता। क्योंकि निडर होकर सत्यधर्मका उपदेश करना ब्राह्मणका कार्य है। निडर और निर्भय बननेके विना उत्तम क्षत्रिय हो नहीं सकता। क्योंकि युद्ध आदि करनेके समय बडे धैर्यकी आवश्यकता होती है। देशदेशांतरोंमें बडे बडे व्यापारधंदे करनेके लिये वैश्यधर्ममें भी निर्भयताकी बडी भारी आवश्यकता है। शूद्रोंके कर्मोंमें भी निर्भयताकी बडी आवश्यकता है। अर्थात् चार वर्णोंके कर्तव्य पालन करनेके लिये निर्भयताकी अत्यंत आवश्यकता है।

शांतिकी भी इसीप्रकार आवश्यकता है। ब्राह्मणका ज्ञानोपदेश शांतिके विना नहीं हो सकता। क्षत्रियका राज्यशासन शांतिके विना चलना कठिन है। वैश्यके व्यापारकी वृद्धि शांतिसे ही हो सकती है और शूद्रोंकी हुनरकी वृद्धिभी शांतिसे ही होती है। शांतिके न होनेसे इन चारोंका कार्य चलना असंभव है।

उत्तम रहने सहनेकी अर्थात् उत्तम अस्तित्वकी भी सबकी उन्नतिके लिये बडी भारी आवश्यकता है। यदि पाठक इन तीनों शब्दोंका विचार करेंगे तो उनको पता लग सकता है, कि प्रत्येक मनुष्य प्रतिदिनके व्यवहारमें, तथा प्रत्येक समाजकी उन्नतिके कार्यमें, प्रत्येक राष्ट्रके अभ्युदयके लिये इन तीनोंकी कितनी आवश्यकता है। उन्नति अभ्युदय और निश्रेयस इनके विना हो नहीं सकता।

मनुष्यमात्रकी हलचल इन तीनों बातोंकी स्थिरता करनेके लिये हो रही है। इन तीनोंके लिये जो विघ्न करते हैं, प्रतिबंध खडे करते हैं, वेही

दोषी और अपराधी होते हैं। दूसरोंको डरानेवाले, दूसरोंको अशांत करनेवाले और दूसरोंके रहने सहनेमें बिगाड करनेवाले ही आततायी, घातकी, दुष्ट, अपराधी कहे जाते हैं। इन तीनों गुणोंकी स्थापना करना धर्म है और तीनोंका बिगाड करना अधर्म है। पुण्य और पापकी व्याख्या भी इसीप्रकार स्पष्ट होती है। अर्थात् इन तीन गुणोंका इस प्रकार महत्त्व है। ब्रह्मचारी गण विद्याध्ययनमें अपनी प्रथम आयु इसीलिये व्यतीत करते हैं कि अपने शरीर, मन तथा आत्मामें स्वस्ति, शांति और निर्भयता स्थिर हो जावे। ब्रह्मचर्य वीर्यरक्षण आदि सुनियमोंका पालन करनेसे शारीरिक स्वस्ति, शांतिकी प्राप्ति होकर रोगोंके दूर होनेसे निर्भयता प्राप्त होती है। विद्यासे सुसंस्कृत बना हुआ मन स्वस्ति और शांतिसे प्रसन्न होकर निडर बन कर अपने स्वतंत्र विचार करने लगता है। सुविज्ञानसे प्रतिभासंपन्न आत्मामें स्वस्ति और शांतिकी स्थिरता होनेसे जो आत्मिक बल उत्पन्न होता है वह मनुष्यको निर्भय करता है। इसीप्रकारके साधु और सज्जन आग्रहसे सत्यके पालन करनेके समय जगतका मुकाबला करनेका प्रशंसनीय धैर्य बताते हैं।

गृहस्थी लोगोंके अंदर स्वस्ति, शांति और निर्भयता स्थिर रहनेसे वे पूर्ण नागरिक और राष्ट्रीय कार्य ठीक प्रकार चलानेके लिये योग्य होते हैं। वानप्रस्थी लोग भी अपना विद्याप्रसार करनेका कार्य और संन्यासी अपना धर्मोपदेशका कार्य स्वस्ति शांति और निर्भयताके विना कर नहीं सकते। इतना इन गुणोंका महत्त्व है।

इसीलिये प्रत्येक धार्मिक कर्ममें स्वस्तिवाचन, शांतिपाठ और अभयपाठ किया जाता है। यदि संस्कार करनेवाले और धार्मिक कर्म करनेवाले लोग इस बातका विचार करके उक्त मंत्रोंका पाठ करेंगे तो उनको बहुत लाभ हो सकता है। उदाहरणके लिये थोडेसे मंत्र यहां देता हूं—

स्वस्तिवाचनके मंत्र।

स्वस्ति पन्थामनुचरेम सूर्याचंद्रमसाविव॥
पुनर्ददताऽघ्नता जानता सं गमेमहि॥

ऋ. ५।५१।१५

"सूर्य और चंद्रके समान हम सब स्वयं उत्तम मार्गका आक्रमण करेंगे और पश्चात् हम दानी, घातपात न करनेवाले और ज्ञानी सज्जनोंके साथ चलेंगे।"

देखिए कितना उत्तम उपदेश है। प्रतिदिन प्रत्येक मनुष्यको यह मंत्र मनन करने योग्य है। स्वयं अपना आचरण सूर्यके समान तेजस्वी, निर्दोष और पवित्र तथा चंद्रके समान शांतिसे युक्त रखना चाहिए। तथा संगति ऐसे लोगोंके साथ चाहिए कि जो उदार दाता, किसीका घातपात न करनेवाले और सुज्ञ हैं। यह उपदेश जबतक लोग नहीं पालन करेंगे, तबतक उनका व्यवहार सुधर नहीं सकता। यह एकही मंत्र अच्छी प्रकार मनुष्योंका मार्गदर्शक हो सकता है। पाठक इस मंत्रका अच्छी प्रकार विचार करें और सोचें, कि वेदका उपदेश कितना दूरदर्शिताका है। तथा और देखिए—

ये देवानां यज्ञिया यज्ञियानां मनोर्यजत्रा अमृता ऋतज्ञाः ॥
ते नो रासन्तामुरुगायमद्य यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः ॥

ऋ. ७।३५।१५

(ये) जो (यज्ञियानां देवानां यज्ञियाः) पूज्य देवोंमें अत्यंत पूजनीय (मनोः यजत्राः) मनुष्योंको सत्कार करने योग्य, (अमृताः) अमर और (ऋत-ज्ञाः) नियमोंको जाननेवाले हैं वे हम सबको आजही (उरु-गायं रासन्तां) विस्तृत मार्ग बता देवें। आप सब हमको कुशलतापूर्वक सदा (पात) सुरक्षित कीजिए।

नियमोंको जानने और नियमोंका पालन करनेवाले सत्पुरुष देवोंके देव कहे जाते हैं। ये ही मनुष्योंको सत्कार करने योग्य हैं। पूर्व मंत्रके साथ इस मंत्रका अधिक विचार कीजिए, तो आपको ही पता लग जायगा कि मानवी स्वस्थताके साथ इस उपदेशका कितना घनिष्ठ संबंध है। स्वस्ति-वाचनका और एक मंत्र देखिए—

नृचक्षसो अनिमिषन्तो अर्हणा बृहद्देवासो अमृतत्वमानशुः ॥
ज्योतीरथा अहिमाया अनागसो दिवो वर्ष्माणं वसते स्वस्तये ॥

ऋ. १०।६३।४

(नृ-चक्षसः) मनुष्यमात्रको सुशिक्षा देनेवाले (अनिमिषन्तः) आलस्यरहित अर्थात् अत्यंत उत्साही, (अर्हणा देवासः) योग्य देवही (बृहत् अमृतत्वं आनशुः) बडा अमरपन प्राप्त करते हैं। जिनकी (अ-ह्रि-माया) कुशल कर्म करनेकी शक्ति कम नहीं होती, जो (अन्-आगसः) निष्पाप होते हैं वेही (ज्योतीरथाः) तेजस्वी रथोंमें बैठते हुए (स्वस्तये) सबका कल्याण करनेके हेतुसे (दिवः वर्ष्माणं व सते) श्रेष्ठ दिव्य स्थानमें विराजते हैं।

इस मंत्रमें (१) सर्व जनोंको सुशिक्षा देना, (२) निरलसता, (३) विशेष योग्यता, (४) कुशल कर्मोंमें प्रवीणता, (५) निष्पाप होना, ये श्रेष्ठ पुरुषोंके गुण बताये हैं। इन गुणोंसे सुभूषित श्रेष्ठ सज्जन जगतका भला कर सकते हैं। तथा—

य ईशिरे भुवनस्य प्रचेतसो विश्वस्य स्थातुर्जगतश्च मंतवः ॥
ते नः कृतादकृतादेनसस्पर्यद्या देवासः पिपृता स्वस्तये ॥

ऋ. १० । ६३ । ८

जो (प्र-चेतसः) विशेष बुद्धिमान् (विश्वस्य स्थातुः जगतः च मंतवः) सब स्थावर जंगमके हितका विचार करनेवाले (भुवनस्य ईशिरे) सृष्टिमें स्वामी बनते हैं, वे आजही कृत और अकृत (एनसः) पापसे हम सबको बचावें और सबका कल्याण करें।

सबके हित करनेका विचार करना और स्वयं ज्ञान संपन्न बनना, ये दो बातें मुख्यतया अधिकारियोंके लिये उचित हैं। यदि अधिष्ठाता अज्ञानी हुआ अथवा यह दूसरोंकी भलाईका विचार करनेमें असमर्थ हुआ, तो उसके अधिकारसे जनताका क्या लाभ हो सकता है? अधिकारियोंके अज्ञानका परिणाम सब जनतापर बहुत बुरा होता है, इस लिये उक्त सूचना वेदमें दी गई है। अधिकारियोंका कर्तव्य है कि वे जनताको सब प्रकारके पापी आचरणोंसे उपदेश और योग्य शासनद्वारा बचावें। और सबको कल्याणके मार्गपर चलनेमें योग्य और उचित सहायता देते रहें। इसीप्रकार जनताकी उन्नति हो सकती है। अब और एक उत्तम मंत्र देखिए—

अपामीवामप विश्वामनाहुतिमपारातिं दुर्विदत्रामघायतः ॥
आरे देवा द्वेषो अस्मद्युयोतनोरुणः शर्म यच्छता स्वस्तये ॥

ऋ १०।६३

हे (देवाः) देवो। (अमीवां अप) हम सबसे सब बीमारियां दूर करो (विश्वां अनाहुतिं अप) त्याग दान आदि न करनेके सब स्वार्थी भावोंको हम सबसे दूर करो (अघायतः) पापी आचरण करनेवालोंके (दुर्विदत्रां-अरातिं) दुष्ट दुराचारोंको (अप) हमसे दूर करो, (द्वेषः अस्मत् आरे) परस्परका द्वेष हम सबसे दूर करो और (नः उरु शर्म) हम सबको अत्यंत शांति और स्वस्थता अर्पण कीजिए।

इस मंत्रका प्रत्येक वाक्य बहुमोल है। व्यक्तिका कल्याण तथा सब समाजका स्वास्थ्य इन नियमोंका पालन करनेसे ठीक हो सकता है। ये मंत्र इतने स्पष्ट हैं कि इनका अधिक विवरण करनेकी भी कोई आवश्यकता नहीं है। पाठक विचारपूर्वक पढेंगे तो स्वयं इनके विस्तृत और व्यापक श्रेष्ठ उपदेशका परिज्ञान उनके हृदयोंमें प्रकट हो सकता है। अब और दो मंत्र देखिए—

देवानां भद्रा सुमति ऋजूयतां देवानां रातिरभि नो निवर्तताम्॥
देवानां सख्यमुपसेदिमा वयं देवा न आयुः प्रतिरन्तु जीवसे॥१॥
भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः॥
स्थिरैरंगैस्तुष्टुवांसस्तनूभिर्व्यशेमहि देवहितं यदायुः॥२॥

यजु. २५।१५,२१

ज्ञानियोंकी (भद्रा सुमतिः) कल्याणकारक उत्तम बुद्धि (ऋजूयतां) सीधी होकर हमारे पास आजावे। श्रेष्ठोंका दान (नः अभि निवर्ततां) हमारे पास आजावे। श्रेष्ठोंके साथ (वयं सख्यं उपसेदिम) हम सब मित्रता करेंगे। तथा दीर्घ आयुकी प्राप्तिके लिये आयुष्यवर्धनका उपाय श्रेष्ठ सत्पुरुष हमें बतावें॥ हम सब कानोंसे कल्याणकाही उपदेश सुनें, आखोंसे कल्याणकारक बातेंही देखें, दृढ और बलवान् अवयवोंके साथ, जबतक हमारी आयु होगी तबतक, ज्ञानियोंका ही हित किया करें॥

ये स्वस्तिवाचनके थोडेसे मंत्र हैं। इनका उपदेश स्पष्ट है। इनके विचारसे पता लग सकता है कि स्वस्तिवाचनके मंत्रोंका उद्देश कितना उच्च और श्रेष्ठ है। इस उपदेशके पालन करनेसे व्यक्ति, जाति, समाज और राष्ट्रका हित निश्चयसे हो सकता है। आजकल जो अस्वस्थता है

वह इसी लिये है कि लोग स्वस्तिवाचनके मंत्र पढतेहुए भी इनके उपदेशकी ओर ध्यान नहीं देते। अस्तु। अब शांतिपाठके मंत्र देखिए—

शांतिपाठके मंत्र।

तच्चक्षुर्देवहितं पुरस्ताच्छुक्रमुच्चरत्। पश्येम
शरदः शतं, जीवेम शरदः शतं, शृणुयाम
शरदः शतं, प्रब्रवाम शरदः शतमदीनाः
स्याम शरदः शतं; भूयश्च शरदः शतात्॥

य. ३६।२४

"वह ज्ञानियोंका हित करनेवाला शुद्ध और पवित्र ज्ञाननेत्र पहिलेसे ही उदित हुआ है। हम सब सौ वर्षकी दीर्घ आयु प्राप्त करेंगे और उत्तम उपदेश सुनते हुए; उत्तम व्याख्यान देते हुए, दीनता रहित होकर उस दीर्घ आयुका उपभोग करेंगे। इतनाही नहीं परंतु सौ वर्षोंसे अधिक आयु भी प्राप्त करेंगे।"

शांतिका एक ध्येय इस मंत्रमें वर्णन किया है। दीर्घ आयुष्य, ज्ञान प्रचार और अदीनता यह शांतिका परिवार है। हरएक मनुष्यका सबसे पहिले प्रयत्न दीर्घायुष्यकी प्राप्ति करनेके लिये होना चाहिए; तथा—

यत्प्रज्ञानमुत चेतो धृतिश्च यज्ज्योतिरंतरमृतं प्रजासु॥
यस्मान्न ऋते किंचन कर्म क्रियते तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु॥

य. ३४।३

"जो मेरा मन ज्ञान, चिंतनशक्ति और धैर्यसे युक्त है तथा जो प्रजाओंमें अमृतरूप और तेजोरूप है, जिस मनके विना कोई भी कर्म किया नहीं जाता, वह मेरा मन शुभ विचार करनेवाला होवे।"

इस प्रकारके छे मंत्र शांतिपाठमें आते हैं। मनको शुभ विचारमय करनेकी सूचना इन मंत्रों द्वारा की है। मनुष्य विचार मय है। जैसे जिसके विचार वैसी ही उसकी योग्यता होती है यदि विचार अच्छे हुए तो मनुष्य अच्छा होता है और मनमें बुरा विचार आनेसे उसकी अवस्थाभी बुरी होती है। जगतमें सच्ची शांति स्थापन करनेके लिये मन सुविचारमय होनेकी अत्यंत आवश्यकता है।

पाठक यहां मनविषयक अन्य मंत्र अवश्य देखें और सोचें कि शांतिके लिये मंत्रोक्त उपदेश किस प्रकार साधक है। अस्तु। अब अभयपाठके मंत्र देखेंगे—

अभयपाठके मंत्र।

अभयं नः करत्यंतरिक्षमभयं द्यावापृथिवी उभे इमे ॥
अभयं पश्चादभयं पुरस्तादुत्तरादधरादभयं नो अस्तु ॥ ५ ॥
अभयं मित्रादभयममित्रादभयं ज्ञातादभयं परोक्षात् ॥
अभयं नक्तमभयं दिवा नः सर्वा आशा मम मित्रं भवंतु ॥ ६ ॥

अथर्व. १९।१७

'अंतरिक्ष और द्यावापृथिवीमें जो जो पदार्थ हैं उन सबसे मुझे अभय प्राप्त होवे। पीछेसे, आगेसे, ऊपरसे और नीचेसे मैं निर्भय हो जाऊंगा। मुझे, मित्रसे भय न होवे और मैं शत्रुसे भी नही डरूंगा। ज्ञात और अज्ञात कारणोंसे भी मुझे भय नहीं होगा। किसी भी दिशासे तथा दिनमें और रात्रीमें मैं निर्भय होकर सदा सर्वदा निर्भयतासे ही विचरूंगा।'

इस प्रकार सर्वत्र निर्भयता प्राप्त होनेके विषयमें वेदकी बहुमोल सूचना है। पाठक इन मंत्रोंके शब्दोंका अवश्य विचार करें। स्वस्तिवाचन, शांति-पाठ और अभयवाचनके मंत्रोंका यह भाव है। अन्यमंत्रोंका विचार पाठक करें और सोचेंकि इन मंत्रोंके द्वारा मनुष्यके दैनिक कार्यव्यवहारके लिये कितना उत्तम उपदेश वेदने दिया है।

अब आपसे एक प्रश्न पूछना है, कि आप जो प्रतिदिन स्वस्तिवा-चन और शांतिपाठके मंत्र पढते हैं, आपने कौनसा उपदेश प्रतिदिनके आचरणके लिये लिया है? क्या आपने अपना वैयक्तिक और सामुदायिक जीवन स्वस्तिवाचनके मंत्रोपदेशके अनुसार घडनेका यत्न किया है? क्या आप अपनी शारीरिक, मानसिक, आत्मिक और राष्ट्रीय शांति स्थापित करनेके लिये यत्न कर रहे हैं? क्या आप स्वयं निर्भय होकर दूसरोंको भीतिसे मुक्त करनेके लिये अपना परम पुरुषार्थ करनेमें तत्पर हैं? यदि ये कार्य, आपसे हो रहे हैं तो ठीक है और आप सच्चे वैदिक धर्मी हैं। यदि ये कार्य आपसे नहीं हो रहे हैं तो फिर आप कहिए कि आपके मंत्र पाठका

उद्देश क्या है? आप केवल मंत्रोंका पाठ कीजिए अथवा अर्थज्ञान पूर्वक पाठ कीजिए, उसका तब तक कोई लाभ नहीं हो सकता, जब तक आप उसपर अमल नहीं करेंगे। आप कहते होंगे कि वेदका अर्थ जाननेसे सब कुछ उन्नति होगी। नहीं नहीं। जब वेदका उपदेश आचरणमें नहीं आवेगा तब तक केवल अर्थज्ञानसेभी कोई लाभ नहीं हो सकता।

जब तक आपके जीवन व्यवहारमें कुरीतियां हैं, जब तक आपसे समाजमें और जातिमें अशांति फैल रही है और जब तक आपसे ही दूसरोंको डर उत्पन्न हो रहा है तब तक आपका मंत्र पाठ व्यर्थही है।

यह आप न भूलिए कि उन्नतिका प्रारंभ आपसे ही होना है। स्वस्ति, शांति और निर्भयताका राज्य जब तक आपकी मनोभूमिमें नहीं स्थापित होगा तब तक आपसे जगत्का सुधार नहीं होगा। जगत् सुधारनेके लिये बाहेरके सब प्रयत्न तबतक व्यर्थ हैं, जब तक आपके अंदरका वायुमंडल शुभ, शांत और भीति रहित नहीं हुआ।

इसलिये हरएक धार्मिक मनुष्यको उचित है कि वह अपने असली जीवनकी परीक्षा करे और दोषोंको दूर और गुणोंको पास करे। दूसरोंका सुधार करनेसे पूर्व अपना सुधार होना है। यहां बाहेरकी दिखावट नहीं चाहिए, अपने अंतर आत्माकी साक्षी चाहिए। आप ही अपनी परीक्षा कीजिए। और आप ही अपने विषयमें सोचिये। जहां सच्चा धर्म होगा वहां स्वस्ति, शांति और अभय होगा। और जहां अधर्म होगा वहां कुरीति, अशांति और भीति होगी। इस कसौटीसे देखिए कि जहां आप हैं वहां क्या है?

पांचजन्य देवता ।

लौकिक संस्कृतभाषामें 'पांचजन्य' शब्दका अर्थ 'शंख Conch' ऐसा है। श्रीकृष्ण भगवानके शंखका नाम 'पांचजन्य' था ऐसा गीतामें तथा अमरकोशमें कहा है। परंतु यह लौकिक अर्थ वेदमें नहीं है। वेदमें 'पांचजन्य' शब्दका अर्थ बडा गंभीर है—

पंचजनस्य इदं पांचजन्यम् ॥

वाचसत्य

'पांच प्रकारके जनोंका जो एक समुदाय होता है उसका नाम पांचजन्य' है। यह वैदिक अर्थ है। युरोपियनपंडितभी इस अर्थको मानते हैं। Relating to the five races of men, containing or extending over them यह आशय उक्तप्रकार ही है।

ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र तथा निषाद, जिनको ज्ञानी, शूर, व्योपारी, कारीगर तथा अशिक्षित भी कहा जाता है, ये पंचजन हैं। इन पांचोंके प्रतिनिधि जिस सभामें बैठते हैं उसका नाम पंचायत, पंचायतन होता है, पंच भी उनको इसलिये कहा जाता है कि उनमें पांच जातियोंके प्रतिनिधि होते हैं। अस्तु। ये पंचजन अर्थात् राष्ट्रके सब प्रकारके लोग होते हैं। इन पांच जनोंका जो संघ बनता है उसको 'पांचजन्य' कहा जाता है। अर्थात् 'पांचजन्य' शब्दमें राष्ट्रका भाव आता है। यह पांचजन्य शब्दका वैदिक अर्थ है और इसी शब्दका लौकिक अर्थ शंख (Conch) है। इतना अर्थका भेद है। इसलिये केवल लौकिक अर्थसे वेदका अर्थ नहीं करना चाहिए, ऐसा जो कहते हैं उनका कथन समर्थनीय है।

'पांचजन्य' शब्द राष्ट्रका वाचक वेदमें है। परंतु इसमें एक विशेषता है। उसको कभी भूलना नहीं चाहिए। उक्त पांच प्रकारके जनोंसे जो एकरूप राष्ट्र बनता है उसकोही 'पांचजन्य' कहा जाता है। पांच प्रकारके

लोकोंमें एकमत चाहिए । तथा पांचोंकी संमतिसे राष्ट्रका व्यवहार चलना चाहिए । तभी उसको पांचजन्य कहा जा सकता है । यदि कोई एक वर्ण अलग हुआ, तो शेष चार वर्णोंके समूहका नाम 'पांचजन्य' नहीं हो सक-ता । पंचजनोंके ऐक्यकी कल्पना जैसी इस शब्दमें है वैसी किसी अन्य शब्दमें नहीं है । राष्ट्रीय एकताकी परम अवधि इस शब्दद्वारा वेदमें बताई है ।

पांच प्रकारके लोगोंके हितकी अत्युच्च कल्पना इस शब्दमें जैसी है वैसी किसी अन्यशब्दमें नहीं है । पांचप्रकारके लोगोंका हित करनेवाला भी पांचजन्य कहलाता है देखिए—

ऋषिं नरावंहसः पांचजन्यमृबीसादत्रिं मुंचथो गणेन ॥
भिनन्ता दस्योरशिवस्य माया अनुपूर्वं वृषणा चोदयन्ता ।

ऋ. १।११७।३

"हे (वृषणौ नरौ) बलवान नेताओ ! (पांचजन्यं) पांचही प्रकारके जनोंका हित करनेवाले (अत्रिं ऋषिं) परिव्राजक ज्ञानीको (गणेन सह) अनुयायी समुदायके साथ (अंहसः ऋबीसात्) बुरे स्थानसे (मुंचथः) आपने छुडादिया । और (अशिवस्य दस्योः) अशुभ दुष्टकी (मायाः) कुटिलताओंको (अनुपूर्वं) क्रमपूर्वक (भिनन्तौ) नाश करते हुए (चोदयन्तौ) उत्तम प्रेरणा आपने की है ।

इसका अंग्रेजी भाषांतर म. ग्रिफिथ साहब निम्न प्रकार करते हैं ।
Ye freed sage Atri, whom the five tribes honoured, from the straight pit, ye Heroes, with his people, baffling the guiles of the malignant Dasyu, repell them, Ye mighty, in succession. (Rig. I. 117. 3.)
हे वीर पुरुषो ! आपने पांच प्रकारके लोग जिसका सन्मान करते हैं ऐसे अत्रि ऋषिको अनुयायियोंकेसाथ भयानक गढेसे मुक्त किया । दुष्ट द-स्युकी सब कुटिलताओंका नाश करके क्रमपूर्वक उनका निराकरण किया ।

---

१ अत्रि—अतति इति अत्रिः । भ्रमण करनेवाला । परिव्राजक । अतिथि, भ्रमण करके उपदेश करनेवाला संन्यासी ।

इस मंत्रमें 'पांचजन्यं अत्रिं ऋषिं' ये शब्द बहुत महत्व पूर्ण हैं। (Sage Atri, honoured by five tribes) 'पांच प्रकारके लोगोंने जिसका सन्मान किया है, ऐसा लोकमान्य अत्रिऋषि' यह उक्त वाक्यका अर्थ है। जिसका सन्मान ज्ञानी, शूर, व्योपारी, कारीगर और अज्ञानी लोक प्रेमपूर्वक करते हैं उसको 'पांचजन्य' कहते हैं। हरएक समयमें लोक-सेवा करनेवाले लोकनायक श्रेष्ठ महात्मा लोक 'लोक-मान्य' हुआ करते हैं। वह ही लोकमान्यताका भाव इस 'पांचजन्य' शब्दद्वारा वेदने बताया है।

'अत्रि' शब्दका अर्थ 'सतत गमन करनेवाला' ऐसा यहां है। 'अतति इति अत्रिः' जो परोपकारके कार्य करनेके लिये, उपदेश आदि करनेके कारण भ्रमण करता रहता है उसको अत्रि कहते हैं। 'परिव्राजक' शब्दमें भी भ्रमणका अर्थ है तथा अथर्ववेदमें इसी अर्थका 'व्रात्य' शब्द आगया है। अथर्ववेदीय व्रात्यसूक्तमें इस शब्दका अर्थ देखिए। यह 'अत्रि' शब्द बताता है कि राष्ट्रीय कार्य करनेवाले मनुष्योंको वारंवार भ्रमण करना होता है। जो उपदेशक होते हैं उनकाभी भ्रमणका कार्य हुआ करता है। अस्तु। इसप्रकार 'अत्रि' शब्दके अर्थकी गंभीरता है। इस मंत्रपर श्री० सायणाचार्यका भाष्य देखिए—

> पांचजन्यं निषादपंचमाश्चत्वारो वर्णाः पंचजनाः। तेषु भवं। ....सर्वेषां हिताचरणात्तत्रभव इत्युच्यते। तादृशं ऋषिं अंहसः.........ऋबीसात् शतद्वारे यंत्रगृहे अत्रेः पीडार्थमसुरैः प्रक्षिप्ता-त्तुषाग्नेः सकाशाद्गणेन............सह मुंचथः॥
>
> (ऋ. सायणभा. १-११७-३)

> अत्रिं ऋषिं असुराः शतद्वारे पीडयन्यंत्रगृहे प्रवेश्य तुषाग्निनाऽबाधिषत।.........अपि च अस्मै असुरपीडया कार्श्यं प्राप्ताय अत्रये पितुमतीं.........अन्नयुक्तमूर्जं बलप्रदं रसात्मकं क्षीरादिकमधत्तं पुष्ट्यर्थं प्रायच्छतं। ऋबीसे

अपगत–प्रकाशे पीडायंत्रगृहे अवनीतं अवाङ्मुखतया-
ऽसुरैः प्रापितं अत्रिं सर्वगणं । गणः समूहः ।......
तेन उपेतं । स्वस्ति अविनाशो यथा भवति तथा
उन्निन्युः । तस्माद् गृहादुद्गमय्य युवां स्वगृहं
प्रापितवन्तौ ॥

ऋ. सायण भा. १।११६।८

इस सायण भाष्यका आशय निम्नप्रकार है= " असुरोंके हाथमें राज्यशासन था । और वे असुर अपनी आसुरी नीतिसे राज्य चलाते थे । अत्रि ऋषिके मनमें उस राज्य शासनमें उचित दैवीनीति का भाव स्थापित करना था । राष्ट्रके पांचों प्रकारके लोगोंका हित करनेके लिये तथा आसुरी राजनीतिको दूर करनेके लिये अत्रिऋषि बडी हलचल मचा रहे थे । इस कारण पांचों प्रकारके लोकोंका प्रेम अत्रिऋषि पर जम गया था और इसीलिये उनके अनुयायी भी बहुत हुए थे । अंतमें अत्रिऋषिकी राष्ट्रीय हलचल दबानेके लिये आसुरी दस्युराजाओंनें सब अनुयायियोंके साथ अत्रिऋषिको पकडकर कैदमें डाल दिया । उस कैदखानेके सौ दरवाजे यंत्रोंसे बंद होनेवाले थे तथा सब अंधेरे कमरे थे । इस प्रकार भयानक जेल खानेमें लोकमान्य अत्रिऋषिको रखदिया और अधिक कष्ट देनेके कारण कमरोंके चारों ओर भूंस भर कर आग लगा दी । इस प्रकार सब लोकमान्य लोकनायक उस कारागृहके अंधेरे कमरेमें उष्णताके कारण बहुत कष्ट भोग रहे थे । ये राष्ट्रभक्तोंके कष्ट लोकपक्षीय वीरोंको जब ज्ञात हुए, तब बडे प्रयत्नसे उन महात्माओंको उन वीरोंनें उस कारागारसे छुडाया और अपने अपने मकानोंतक बडे स-न्मानके साथ पहुंचाया । लोकमान्य अत्रिऋषि अपने सहयोगियोंके साथ, जेलखानेके कष्टके कारण, बहुत कृश हो गये थे, इसलिये उक्त वीरोंनें उनको पौष्टिक अन्न, घी, दूध, आदि अर्पण किया और फिर उनको हृष्ट पुष्ट बना दिया ।"

श्री. सायणाचार्यजीनें यह कथा अपने भाष्यमें दी है । यहां स्पष्ट प्रतीत होता है कि, प्रकाश और अंधेरेका यह रूपक है । जब रात्रीकेसमय

अंधेरेका राज्य होता है, तब अग्नि आदि प्रकाशक देव अर्थात् सूर्य कैदमें होते हैं। इस आधिदैविक घटनापर विविध रूपक वेदमें और ब्राह्मणोंमें आये हैं, इन रूपकोंसे अनेक प्रकारके बोध मनुष्योंको प्राप्त होते हैं। इस रूपकसे राजनीतिका परिज्ञान होता है।

राजकीय हलचल मचानेवाले लोकमान्य लोकनायकोंको राजाकी रुष्टता तथा उसके कारण विविध प्रकारके कष्ट सहन करनेके लिये तैयार रहना चाहिए। तथा ज्ञानियोंको सदा ऐसा प्रयत्न करना चाहिए कि जिससे प्रजाका हित होता रहे और किसीको किसी स्थानमें अनियंत्रित राजसत्ताके कारण कष्ट न हो सके। अस्तु।

उक्त मंत्रमें 'पांचजन्य' शब्द 'राष्ट्रसंमत, लोकसंमत, लोकमान्य, honoured by all people' यह आशय बता रहा है। जनताका हित करनेवाला सत्पुरुष 'पांचजन्य' कहलाता है। इसी बातको निम्न मंत्रमें और स्पष्टता पूर्वक देखिए—

एकं नु त्वा सत्पतिं पांचजन्यं जातं शृणोमि यशसं जनेषु ॥
ऋ. ५।३२।११

'(जनेषु) जनता में (यशसं) यशस्वी, (सत्पतिं) और सज्जनोंका पालन करनेवाला (त्वां) तूं (एकं) एकही (पांचजन्यं) पांच प्रकारके लोगोंका हित करनेवाला (जातं) प्रसिद्ध है ऐसा मैं (शृणोमि) सुनता हूं।'

यह मंत्र विविध रीतिसे मनन करने योग्य है। (१) जनतामें यश प्राप्त करना, (२) पांच प्रकारके लोकोंका हित करना, (३) सज्जनोंका संरक्षण करना, ये तीन उपदेश इस मंत्रमें स्पष्ट हैं। जो पांच प्रकारके लोकोंका अर्थात् संपूर्ण राष्ट्रका हित करता है उसको उचित है कि वह सज्जनोंकाही संरक्षण करे और दुर्जनोंको शासन करे। सार्वजनिक हितका तात्पर्य बुरे दुष्ट जनोंकी सहाय्यता करनेमें नहीं है। राष्ट्रहितका अर्थही यह है कि राष्ट्रमें जो सज्जन हैं उनका हित। इस प्रकार निःपक्षपातके भावसे जो राष्ट्रहित करता है वह ही सच्चा 'पांच-जन्य' होता है और वहही राष्ट्रमें यशस्वी होता है।

'पांचजन्य सत्पति' अर्थात् जनहित करनेवाला लोकनायक, सज्जनोंका

ही हित करनेवाला होता है । लोकमान्यता किस रीतिसे प्राप्त होती है इसका इन शब्दोंमें विशेष योग्य उत्तर है । तथा लोकमान्यताका संरक्षण किस प्रकार किया जा सकता है इसकी सूचना भी इसमें है । जनताका हित करनेवाले लोक-नायकोंद्वारा एक विलक्षण शक्ति उत्पन्न होती है जिसका उल्लेख निम्न मंत्रमें है । देखिए—

ससर्परीरभरत्तूयमेभ्योऽधि श्रवः पांचजन्यासु कृष्टिषु ॥
सा पक्ष्या नव्यमायुर्दधाना यां मे पलस्तिजमदग्नयो ददुः ॥

ऋ. ३।५३।१६

"(पांचजन्यासु) पांचही प्रकारके लोकोंका हित करनेवाले (कृष्टिषु) उद्यमशील मनुष्योंमें (एभ्यः) इन लोकोंकोही (श्रवः) यश (ससर्परीः) प्रेरक राष्ट्रशक्ति (तूयं) शीघ्रही (अधि अभरत्) अर्पण करती है । (सा) वह ससर्परी देवी (पक्ष्या) पक्षभेदसे उत्पन्न होती है । और वह (नव्यं आयुः) नवीन जीवन (दधाना) देती है । (यां) जिसको (पलस्तिजमदग्नयः) वृद्ध और तेजस्वी (मे ददुः) मुझे देते हैं ।"

इस मंत्रमें (Party politics) पक्षभेदकी राजनीति का वर्णन है ।

(१) **ससर्परी**- 'सर्वत्र सर्पणशीला वाक्' (इति सायणः)-सर्वत्र फैलनेवाली वाक्शक्ति ऐसा इसका अर्थ श्रीसायणाचार्यजीनें किया है । "**सर्वत्र फैलनेवाली शक्ति**" इतनाही इसका यौगिक अर्थ है ।

(२) **पक्ष्या ससर्परी**-पक्ष के अभिमानसे यह व्यापक प्रेरक शक्ति उत्पन्न होती है । स्वपक्षकी निष्ठामें इस शक्ति का उदय होता है इसलिये इसको '**पक्ष्या**' (Party-born) कहा है । राजव्यवहारमें पक्षभेद होते हैं और अपने अपने पक्षके अभिमानके साथ स्पर्धा चलनेके कारण इस राष्ट्रशक्तिका उदय होता है ।

(३) **नव्यं आयुः दधाना**—वह उक्त शक्ति जो पक्षभेद से उत्पन्न होती है 'नव्य आयु' अर्थात् नवजीवन (New life) राष्ट्रके अंदर उत्पन्न करती है । पक्षभेदसे उत्पन्न होकर राष्ट्रके अंदर नवीन जीवनका संचार करनेके कारण यह '**ससर्परी**' शक्ति (पांचजन्य) पांचही प्रकारके लोकोंका हित करनेवाले लोगोंको यश देती है ।

इस मंत्रका विचार करनेसे वैदिक राजनीतिका बोध हो सकता है। इसमंत्रका भाषांतर म. ग्रिफिथ साहेब निम्न प्रकार देते हैं—

Sasarpari brought glory speedly to these, over the generations of the five fold race; Daughter of Paksh, she bestows new vital power, she whom the encient Jāmadagni gave to me. (Rig. 3 53. 16)

Sasarpari—Swiftly moving or gliding everywhere.

इस भाषांतरमें यद्यपि दोष बहुत हैं तथापि उक्त (१) राष्ट्रशक्ति यश प्राप्त कराती है, (२) पक्षभेदमें उसका जन्म है, (३) और उससे विलक्षण शक्ति प्राप्त होती है; ये तीन मुख्य बातें उक्त भाषांतरसेभी पता लग सकतीं हैं। इसविषयमें अब निम्न मंत्र देखिए—

यत्पांचजन्यया विशेंद्रे घोषा असृक्षत ॥
अस्तृणाद्बर्हणा विपोऽर्यो मानस्य स क्षयः ॥

ऋ. ८।६३।७

"(यत्) जब (पांचजन्यया) पंचजनोंका हित करनेवाले (विशा) प्रजाजनोंके द्वारा (इंद्रे) राजाके पास (घोषः) घोषणा (असृक्षत) पहुंचाई जाती है, और जब (सः अर्यः) वह श्रेष्ठ राजा (विपः) विद्वानोंके (मानस्य) संमानका (क्षयः) आश्रय होता है, तब ही वह अपनी (बर्हणा) महत्तासे शत्रुओंका (अस्तृणात्) नाश कर सकता है।"

इस मंत्रमें निम्न लिखित तीन बातें है। (१) जनतासे अपने मतकी घोषणा राजाकेपास पहुंचाई जाती है, (२) जनसंमतिकी घोषणा पहुंचानेवाले लोक पंचजनोंका हित करनेवाले होते हैं अर्थात् प्रजापक्षके प्रतिनिधि होते हैं। (३) श्रेष्ठ राजा प्रजाकी संमति बतलानेवाले विद्वानोंका संमान करता है, और इसलिये उस राजाकी शक्ति बढती है और वह शत्रुका नाश कर सकता है। अर्थात् जो राजा प्रजाके मतकी पर्वाह नहीं करता, और प्रजाके सन्मान्य नेताओंका सन्मान नहीं करता उसका बल घट जाता है यह उक्त मंत्रका तात्पर्य है।

म. ग्रिफिथ साहेब इसका भाषांतर निम्न प्रकार करते हैं—

When the five tribes with their men have sent out their voice to Indra इस भाषांतरसेभी प्रजाके मतकी घोषणा राजाकेपास पहुंचानेका भाव स्पष्ट होता है। 'पांचजन्य-घोष' शब्दका अर्थ (Public voice) प्रजाका सार्वजनिक महानाद ऐसा होता है। प्रजाकी घोषणा नरेन्द्रकेपास पहुंचाई जाती है। नरेंद्र उस घोषणाको मानता है इसलिये बलवान् होता है। यदि वह न मानेगा तो बलहीन होगा। इस विषयमें निम्न मंत्र यहां देखने योग्य है—

स वज्रभृद्दस्युहा भीम उग्रः सहस्रचेताः शतनीथ ऋभ्वा॥
चम्रीषो न शवसा पांचजन्यो मरुत्वान्नो भवत्विंद्र ऊती॥

ऋ. १।१००।१२

इस मंत्रमें निम्न शब्द विशेष मनन करने योग्य हैं—

(१) पांचजन्यः—(निषाद-पंचमाश्चत्वारो वर्णाः। तेषु रक्षकत्वेन भवः पांचजन्यः। One who guards five tribes of people.) जो पांच प्रकारके लोगोंका संरक्षण करता है, जो प्रजापक्षका हित करता है उसको पांचजन्य कहते हैं (श्री. सायणाचार्य.)

(२) शतनीथः—(शत-) सैंकडों मनुष्योंका (नीथः a leader) नेता। अथवा जो सैंकडों मनुष्योंको सन्मार्ग बताता है वह शतनीथ होता है।

(३) चम्रीषः—जो सैन्यको चलाता है।

इन अर्थोंको ध्यानमें धरकर उक्त मंत्रका अर्थ निम्न प्रकार होता है। "(पांचजन्यः) जो पांचही प्रकारके लोकोंका हित करता है, (शतनीथः) जो सैंकडों मनुष्योंको उत्तम मार्ग बताता है, तथा जो (चम्रीषः) सैन्यको चलाता है, वह उग्र शूर और शस्त्रास्त्र धारण करनेवाला इंद्र (राजा) हमारा रक्षण करे।"

इस मंत्रमें 'पांचजन्य' शब्द विलक्षण और अद्भुत अर्थके साथ प्रयुक्त किया है। सार्वजनिक हित करनेके विषयमें वेदका मंतव्य स्पष्ट है। इस विषयमें निम्न मंत्र देखिए—

भुवद्विश्वेषु काव्येषु रन्ताऽनु जनान्यतते पंच धीरः ॥

ऋ. १।९२।३

"(विश्वेषु काव्येषु) संपूर्ण काव्योंमें (रन्ता) रममाण होनेवाला (धीरः) धैर्यशाली मनुष्यही (पंचजनान्) पांच प्रकारके लोकोंके (अनु) अनुकूल (यतते) प्रयत्न करता है ।"

पांच प्रकारके जनोंका हित करनेवाला, राष्ट्रीय हलचल करनेवाला मनुष्य 'धीर' अर्थात् धैर्यशाली बुद्धिमान होना चाहिए। डरपोक और निर्बुद्धोंका यह कार्य नहीं है। तथा सार्वजनिक कार्य करनेवाला मनुष्य काव्यरसका ज्ञाता चाहिए, अर्थात् कवि चाहिए। कवि वह होता है कि जो क्रांतदर्शी अर्थात् दूरदर्शी होता है। आगे भविष्यकालमें इसका परिणाम क्या होगा यह उसको ज्ञान होना चाहिए। जो दूर देखनेवाला नहीं होता है वह राष्ट्रका कार्य करनेकेलिये उपयोगी नहीं होसकता। यह वेदका उपदेश सब समयके लिये तथा सब देशों के लिये एकसाही उपयोगी होगा इसमें कुछभी शंका नहीं है।

इसप्रकार पांचजन्यका तत्त्वज्ञान है। इसविषयके अनेक मंत्र वेदमें हैं। विद्वान् पाठक इनका अवश्य विचार करें।

"मा व स्तेन ईशत । माऽघशंसः ।"

'चोर अथवा बुरे मनवाला मनुष्य आपका स्वामी न बने।' (यजु. १।१) यह वेदकी आज्ञा है। क्या आप इसका पालन कर रहे हैं? धोखेसे दूसरेके धनका हरण करनेवाला चोर होता है, जबरदस्तीसे दूसरोंको लूटनेवाले डाकू होते हैं, और कपटी लोग अपने जाल फैलाकर लोगोंको लूट रहे हैं।

क्या आप जानते हैं कि आपके ऊपर चोरका स्वामित्व कैसे होता है? आप अपने अंतःकरणका निरीक्षण कीजिए। अंतःकरणके कोनेमें छिपकर बैठे हुए अनेक चोर आपको वहां दिखाई देंगे। अंतःकरण एक बड़ी भारी गुहा है। गुहामें अंधेरा बहुत होता है इस लिये वहां जानेके लिये वैदिक ज्ञानका दीप' हाथमें लीजिए और देखिए उस गुहाके छोटे मोटे कोनोंमें देखिए! वहां क्रोधासुर बैठा है, इधरके कोनेंमें कामासुर है। वह परे देखिए, उस परले कोनेमें वह लोभासुर है। आपके ज्ञानदीपके तेजसे परे भाग रहे हैं वे कौन हैं आप जानते हैं? उनका नाम है मोहासुर, मदासुर और मत्सरासुर। देखिए ये यहां छिपकर बैठे हैं। ये सब किस समय प्रबल होंगे किसीको भी पता नहीं। प्रबल होकर जब ये आपके अंतःकरणका कबजा लेंगे तब आपका जीवन ही बिगड जायगा। इस लिये सबसे प्रथम आप अपने सुविचारादि सब सेनापतियोंको और अपने अन्य अफसरोंको सदा तैयार रखिए। सुविचारादि सदा जागते रहें और सर्वत्र पहरा करें। किसी समयमें भी इन शत्रुओंको प्रबल होने न दें। स्मरण रखिए। अपने अंतःकरणके आप स्वयं स्वामी बने रहिए। यदि शत्रुके आधीन हो जाओगे तो पराधीनताका कटु फल चखना पड़ेगा। याद रखिए। 'मा वस्तेन ईशत'। इस वाक्यसे वेद भगवान् आपको जगा रहा है। 'मा अघशंसः'। किसी पापीके आधीन भी आप न हो जाइए।

जागृति रखनी चाहिए। सदा जागृत रहना चाहिए। तभी आपका प्रभुत्व जमा रहेगा। इसी विचारको आप जरा फैलाइए। विस्तृत भूमीमें अवलोकन कीजिए। आपके सत्संगमें आपका वर्ताव देखिए। आप सभापति, मंत्री आदि चुनते हैं। क्या आपने कभी सोचा है कि वे धर्मसंघके माननीय सदस्य हो सकते हैं? धर्मसंघके प्रभुत्वके स्थानके लिये वे योग्य हैं? आपके ऊपर शासन करने योग्य वे हैं?

आप कहते हैं कि उनके पास पैसा बहुत है इसलिये उसको सभापति बनाओ, वह बड़ा सरदार है इस लिये वह अध्यक्ष बने, वह इंतजामी मामलोंमें बड़ा प्रवीण है इसलिये आपका अधिष्ठाता बने। परन्तु कभी आपने सोचा है कि वेदकी आज्ञा आपके लिये क्या है? वेद कहता है कि जो कुछ आपत्ति आजावे 'मा वस्तेन ईशत। मा अघशंसः।' चोर और पापियोंके शासनके नीचे न रहो। जब आप अपने मंत्री और प्रधान चुनते हैं तब आप इस बातका विचार क्यों नहीं करते? क्या आपको उनके धनका लोभ अधिक लाभदायक प्रतीत होता है? क्या उनका अधिकार फलदायक आपको प्रतीत होता है? आपको उचित है कि आप उनका धार्मिक भाव देखें। यदि आपके सत्संगके लिये धन न मिला तो न सही। धनके विना कार्य चल सकता है। आप धनको पास करके शीलको दूर करना चाहते हैं। यही आपके विघातका कारण है।

आपका धर्म वेद है। और जिसका धर्म वेद है वह सदा उन्नत होता ही रहेगा। परन्तु वेदके आदेशके अनुसार चलना चाहिए। 'सत्य यश और श्री' यह वैदिक क्रम है इसको आपने उलटा किया है। आप चाहते हैं कि 'श्री यश और सत्य' ऐसा क्रम रखकर अपनी उन्नति करें, परन्तु ऐसा नहीं होगा। क्रम उलटा करनेसे राक्षसी भाव होता है। दैवी भावको पास कीजिए। तभी आपको यश मिलेगा।

वेदके प्रकाशसे देव बन जाइए और आसुरी भावोंको दूर कीजिए। और सदा स्मरण रखिए कि—

'मा वस्तेन ईशत। माऽघशंसः।'

अपना मन देखिए। उसमें दैवी भावनाओंका विकास कीजिए। फिर जहां आप बैठेंगे वहां ही स्वर्गधाम होगा। यदि आपकी तैयारी है तो उठिए और कमर बांधकर पहरा करनेके लिये उद्यत हो जाइए।

देव किसको चाहते हैं ?

इच्छंति देवाः सुन्वंतं, न स्वप्नाय स्पृहयंति ॥
यंति प्रमादमतंद्राः ॥ ऋ. ८।२।१८ अ. २०।१८।३

"(१) देव (सुन्वंतं) यज्ञ करनेवालेको चाहते हैं। (२) देव (स्वप्नाय) सुस्तको (न स्पृहयंति) नहीं चाहते। (३) तथा जो (प्रमादं) गलतियां करता है उसको (अ-तंद्राः) आलस न करते हुए (यंति) दंड देते हैं।"

"The Devas seek him who makes sacrifice; they desire not the sleepy: They punish sloth unweariedly."

इस मंत्रका तात्पर्य स्पष्ट है कि, जो यज्ञ अर्थात् सत्कर्म करता है, उसीपर देव प्रीति करते हैं, परंतु जो सुस्त होता है, प्रयत्न नहीं करता, पुरुषार्थसे अपनी उन्नति नहीं करना चाहता, अपनी अवस्था सुधारनेका प्रयत्न भी नहीं करता उसका देव कभी सहाय्य नहीं करते।

देव स्वयं "अ-तंद्राः" अर्थात् सुस्त नहीं हैं, वे कभी आलसमें अपना समय खोते नहीं। देखिये चंद्र सूर्य सुस्तीको छोडकर अपना अपना नियत कार्य उत्साहके साथ कर रहे हैं, अपने अपने ऋतुमें योग्य वृष्टि आदि पर्जन्य करता है, पृथ्वी भी अपना कार्य ठीक नियमानुसार करती है, तात्पर्य जो सब देव इस जगत्में विद्यमान हैं, आलसी नहीं हैं परंतु पुरुषार्थी और प्रयत्नशील हैं। इनके अतिरिक्त जो बडे लोकोत्तर पुरुष होगये हैं वेभी सुस्त नहीं थे। तात्पर्य देवत्व और सुस्ती इनका एकत्र वास्तव्य नहीं हो सकता। यदि आपमेंसे कोई भी देव बननेकी इच्छा धारण करता है, तो उसको सबसे प्रथम उचित है कि वह सुस्तीको दूर करे, तंद्रा अपने पास आने न दें, और परम पुरुषार्थी बने। धार्मिक पुरुषार्थसे ही देवत्व प्राप्त हो सकता है।

स्वयं पुरुषार्थ करना चाहिए, यह एक गुण है। आलसी, तथा सुस्तको अपने पास रखना नहीं चाहिये यह दूसरा गुण भी साथ साथ चाहिये। अपने साथी यदि पुरुषार्थी होंगे, तो उनका सहवास अपना उत्साह बढाता है। परंतु यदि हम सुस्त आदमियोंमें निवास करेंगे तो हम भी सुस्त बन सकते हैं। इसलिये अपने साथी ऐसे ही चुनने चाहिये कि जो परम पुरुषार्थी हों।

प्रमाद और गलतियां करनेवाले भी मित्र न हों। दक्षतासे पुरुषार्थ करनेवाले, और सिद्धि प्राप्त होने तक प्रयत्न करनेवाले उत्साही मित्र होने चाहिये। ये गुण हैं कि जो देव पसंद करते हैं। देवोंकी प्रसन्नतासे सब कुछ उन्नति प्राप्त हो सकती है इसलिये इन गुणोंको धारण करके देवोंका प्रेम संपादन करना उचित है। पुरुषार्थ करनेके समय निम्न मंत्रका स्मरण करना चाहिये—

ॐ क्रतो स्मर क्लिबे स्मर कृतं स्मर॥ य. ४०।१५

"हे (क्रतो) पुरुषार्थी जीव! ओंकार वाच्य परमेश्वरका स्मरण कर, (क्लिबे) सामर्थ्यके लिये स्मरण कर और (कृतं) जो पहिले किया गया है उसका स्मरण कर।"

इस मंत्रमें जीवात्माका नामही "क्रतु" अर्थात् "कर्म" कहा है। जीवात्माके अन्य नाम बहुत हैं परंतु यह "क्रतु" नाम उसका पुरुषार्थका धर्म बता रहा है। जीवका स्वभावही प्रयत्न करना है। "आत्मा" शब्दकाभी "सतत कर्म करनेवाला" ऐसाही मूल अर्थ है। तात्पर्य पुरुषार्थ ही इसका स्वभाव है। आलस्य इसका शत्रु है, जब यह शत्रुके आधीन हो जाता है उस समय आलसी बन जाता है,। इसलिये "कभी अपने शत्रुके आधीन नहीं होना चाहिये।"

उक्त मंत्रमें कहा है कि पुरुषार्थके साथ (१) परमेश्वरकी भक्ति करनी चाहिए, (२) सामर्थ्यकी वृद्धिके लिये यत्न होना चाहिये, (३) तथा किये हुए कर्मका निरीक्षण करना चाहिए। परमेश्वरभक्तिके विना शांति प्राप्त

---

१ अत्-सातत्यगमने। सतत प्रयत्न करनेवाला आत्मा है।

नहीं हो सकती, सामर्थ्य प्राप्तिकी इच्छाके विना पुरुषार्थकी प्रेरणा ही नहीं हो सकती, तथा भूतकालमें जो कर्म किया था उसका निरीक्षण करनेके विना भविष्यकालके कर्ममें दक्षता रखना असंभव है। इसलिये पुरुषार्थ करनेवालोंको उचित है कि वे उक्त तीन नियमोंको कभी न भूलें। तथा—

पुरुषो वै यज्ञः ॥ शत. ब्रा. १।३।५।१

(The man is the sacrifice) मनुष्य ही यज्ञ है। यह ब्राह्मण ग्रंथोंका कथन इतना उत्तम है कि इसका वर्णन करना ही अशक्य है। मनुष्य अपने आपको यज्ञरूप ही समझे। जन्मसे मरने तक यदि कुछ करना है तो यज्ञ ही करना है, ऐसी भावना मनमें धारण करे। यज्ञमें किस रीतिसे बोलना, देखना, सुनना तथा इतर व्यवहार करना चाहिये इसका विचार करके ही अपने संपूर्ण इंद्रियोंके व्यापार करने चाहिए। मैं सदा पवित्र यज्ञमंडपमें हूं, इसलिये इस पवित्र यज्ञभूमिके अयोग्य कोई भी वर्ताव मेरेसे नहीं होना चाहिये, ऐसा विचार सदैव जीवित और जागृत रखना चाहिये और दक्षताके साथ वैसा ही उत्तम और शुद्ध आचरण करना चाहिये।

यज्ञ करनेवालोंको देव पसंद करते है। यह यज्ञ एक दो दिनमें समाप्त होनेवाला नहीं है, यह सौ वर्ष चलनेवाला शतसांवत्सरिक यज्ञ है। दिनरात इस सत्रका कार्य चलना है। यदि किसी समय कुछ दोष हो जायगा तो यज्ञही सब दोषमय हो सकता है। इस लिये बडी सावधानता रखिये और इस यज्ञको निर्दोष बनाइये।

सब प्रशस्त-तम कर्मोंको यज्ञ कहते हैं। यज्ञमें तीन मुख्य गुण होते हैं। "सत्कार, ऐक्य और उपकार" ये तीन लक्षण यज्ञके हैं। जिस कर्ममें ये लक्षण होंगे वह यज्ञ कहा जाता है। इस दृष्टिसे सब कर्मोंका विचार करके श्रेष्ठ सत्कर्म कीजिए और देवोंकी प्रीति संपादन करके प्रशंसनीय बन जाइये।

सार्वभौमिक धर्म।

जो धर्म व्यक्तिके नामसे चलपडे हैं, अथवा जिन धर्मोंमें किसी एक व्यक्तिके ऊपर ही श्रद्धा रखनेकी आवश्यकता होती है, वे "सार्वभौमिक धर्म" नहीं हो सकते। किसी देशविशेषमें अथवा किसी जातिविशेषमें ही उनका प्रचार होना संभव है। तथा जिस समय विचार करनेवालोंकी संख्या अधिक हो जायगी, उस समय उक्त प्रकारके धर्म जीवित नहीं रह सकते। विचार करनेवालोंकी संख्या अधिक होजाने पर अथवा प्रत्येक बातका स्वीकार करनेके समय युक्तिकी कसौटी लगानेकी प्रवृत्ति बढ जानेपर उक्त प्रकारके वैयक्तिक धर्म ठहर नहीं सकते। अर्थात् जबतक विचारशक्ति नहीं बढी तबतक ही उक्त प्रकारके पंथ चल सकते हैं।

जगत्में प्रतिदिन ज्ञान तथा विज्ञान बढ रहा है। वह अब कम नहीं हो सकता। तथा ज्ञानविज्ञानके कारण तार्किक शक्ति भी बढ रही है। इसके कारण जिस धर्ममें वैज्ञानिक सचाई होगी, वही धर्म भविष्य कालमें रहेंगे, शेष मतमतांतर कालके प्रभावके अंदर नष्टभ्रष्ट हो जांयगे, इसमें कोई संदेह नहीं।

हमारा वैदिक धर्म "वैज्ञानिक धर्म" होनेके कारण ही इतने शताब्दियों अथवा सहस्राब्दियोंतक अबाधित रहा है, इसलिये हमें पूर्ण आशा है कि भविष्य कालके लिये यदि कोई धर्म चिरकालतक रहेगा, तो हमारा ही धर्म रहेगा। इसकी वैज्ञानिक सचाई हर समय लोगोंके अनुभवमें आचुकी है, इस समयमें भी आरही है और इसलिये भविष्यमें भी आजायगी इसमें हमें कोई शंका नहीं है। क्योंकि इसके मूलतत्वोंमें कोई बात वैज्ञानिक तत्वोंके विरुद्ध नहीं है। इसका थोडासा प्रमाण इस लेखमें बताना है।

धर्मविचारकी आवश्यकता मनुष्यके लियेही है। पशुपक्षी वृक्षवनस्पति आदिकोंके धर्म उनके साथ उत्पत्तिसिद्ध ही हैं, उनमें बदल नहीं हो सकता। जो वास्तविक "मनुष्यधर्म" है, वहभी न बदलनेवाला अनादिसिद्ध ही

धर्म है और जो सच्चा मनुष्यधर्म होगा वही सच्चा "सनातन धर्म" होगा! यहां प्रश्न उत्पन्न हो सकता है कि मनुष्यका सच्चा धर्म निश्चित करनेका क्या साधन है? और इस समय जितने धर्म विद्यमान हैं, उनमें सच्चा मानवधर्म कौनसा है?

मनुष्यके अंदर जितने तत्व हैं उन तत्वोंके निजधर्मोंका जो पोषक होगा वही सच्चा मानवधर्म अथवा मनुष्यधर्म होगा। मनुष्यके अंदर (१) शरीर, (२) इंद्रिय-ज्ञानेंद्रिय और कर्मेंद्रिय, (३) मन, (४) चित्त, (५) अहंकार, (६) बुद्धि तथा (७) आत्मा ये सात तत्व हैं। इनके गुणधर्मोंका विकास करनेके नियम जिसमें उत्तम प्रकारसे कहे हैं, वह धर्मही "मनुष्योंका धर्म" हो सकता है। सब वैज्ञानिक पुरुषोंको यही धर्म हमेशा मानने योग्य होगा। कई वैज्ञानिक अनात्मवादी हैं, इसलिये उनमें आत्मोन्नतिविषयक बातोंके विषयमें उदासीनता है, यह सत्य है। परंतु वह उनका अज्ञान है। बुद्धिके परे एक ज्ञानमय तत्व है, ऐस माननेवाले कई वैज्ञानिक इस समयमेंभी उत्पन्न हुए हैं, इस आत्मतत्वके विषयमें भविष्य कालमें कोई झगडा नहीं रह सकता।

संपूर्ण उपनिषदोंमें उक्त सात तत्वोंकाही विचार संक्षेपसे किया है और वेदमेंभी उनकाही विचार विस्ताररूपसे किया है। इस कारण यह धर्म हमेशा रहनेवाला तथा संपूर्ण मानवजातिका धर्म है। कौनसा ऐसा मनुष्य इस पृथ्वीपर है, कि जिसमें उक्त सात तत्वोंमेंसे कोईएक तत्व नहीं है? न्यून अधिक प्रमाणसे कम अथवा अधिक उन्नत सात तत्वोंका अस्तित्व हरएक मनुष्यमें है; इसलिये इन तत्वोंकाही वर्णन जहां होगा, वह धर्म सार्वभौमिक होनेमें शंकाही क्या है? यहां किसी एक तारक व्यक्ति पर विश्वास रखनेकी आवश्यकता नहीं। प्रत्यक्ष अनुभवका "योगमार्ग" जो उक्त तत्वोंका विकास करनेके लियेही है, यहां हरएककी सहायता करनेके लिये तैयार है। यहां न कोई ढोंग है और न कोई गपोडे हैं।

कौनसा मनुष्य है कि जो अपने मन बुद्धि चित्त अहंकार आदिकी शक्तियोंका विकास नहीं चाहता। सब मनुष्य यही चाहते हैं, परंतु किसी अन्य धर्म पुस्तकमें इन तत्वोंका विकास करनेके साधन विद्यमान नहीं हैं।

इस वैदिक धर्ममें ही ये सब साधन इस समयमें भी विद्यमान हैं । हरएक देशका और जाति रंग रूप आदिका मनुष्य इन साधनोंसे अपने आत्माकी तथा अन्य सब शक्तियोंकी उन्नति कर सकता है । इसलिये यह धर्म प्रत्यक्ष वैज्ञानिक धर्म है ।

यहां कई पूछेंगे कि वेदमें अग्नि इंद्र आदिका वर्णन है और उपनिषदोंमें आत्मा बुद्धि मन आदिका वर्णन है । इन दो वर्णनोंकी एक-वाक्यता कैसे हो सकती है ? इसके उत्तरमें निवेदन है कि उक्त वर्णनका परस्पर संबंध विदित होनेपर यह शंका रह नहीं सकती । इसका उत्तर निम्न चित्रसे मिल सकता है—

वैदिक देवताओंका वैयक्तिक अवयवोंसे यह संबंध है । इस संबंधको देखनेसे देवता वर्णनका डर हट जायगा और उस वर्णनका भाव ध्यानमें आजायगा । उपनिषदोंमें वैयक्तिक शक्तियोंका ज्ञान है, वेदमें विश्वव्यापक शक्तियोंका वर्णन है, और स्मृतियोंमें सामाजिक नियम प्रधान हैं । इन तीनोंका संबंध उक्त कोष्टकमें बताया है । इस प्रकार यह धर्म किसी ढोंगके आश्रयसे भ्रम फैलानेवाला नहीं है, प्रत्युत वैज्ञानिक तत्वोंका विचार करनेवाला होनेके कारण सार्वभौमिक, सार्वदेशिक, सार्वजातीय और सार्वलौकिक है, इसी लिये सनातन तथा चिरकाल रहनेवाला है । इसी बातका अधिक स्पष्टीकरण किसी अन्य लेखमें विस्तारपूर्वक किया जायगा ।

सत्य, यश और धन।

मनुष्योंके कर्तव्योंकी उत्तम दिशा बतानेवाला एक वचन उपासनाके समय कहा जाता है—

सत्यं यशः श्रीर्मयि श्रीः श्रयतां स्वाहा ॥

अर्थ—(१) (मयि) मेरे अंदर (सत्यं) सत्यनिष्ठा (श्रयतां) स्थिर रहे। (२) (मयि) मुझे (यशः) यश, कीर्ति, (श्रयतां) प्राप्त होवे। (३) मुझे (श्रीः) शोभा और (श्रीः) धन (श्रयतां) प्राप्त होवे। मैं (स्व-आ-हा) स्वार्थका पूर्ण त्याग करता हूं।

इस प्रार्थनामें इच्छाका निम्न क्रम है। (१) सत्यनिष्ठा, (२) यश और (३) धन। सत्यके लिये सबसे प्रथम यत्न होना चाहिए। सत्यके विषयमें मनमें प्रेम रहना चाहिए। यश और धनकी पर्वाह न करते हुए सत्यका पालन होना चाहिए। सत्यका पालन मुख्य है और यश तथा धन गौण है यह विचार यहां है।

जब सत्यका पालन हो जायगा तब यशकी प्राप्तिका विचार करना चाहिए। यश और धनमें यदि तुलना करनी हो तो धनका विचार छोडकरभी यशकेलिये यत्न करना चाहिये। परंतु यश सत्यसे बडा नहीं है। सत्य और यशमें तुलना करनी हो तो यशको छोडकर सत्यके पास रहना चाहिए।

जब सत्य और यश प्राप्त होजाय तब धनकेलिये प्रयत्न होना चाहिए। परंतु आजकल सर्वत्र देखा जायगा, तो ऐसा प्रतीत होता है, कि धनकी इच्छा सबसे प्रबल होगई है। धन सबसे पूर्व कमाना चाहिए यश मिले या न मिले। बुरे या भले मार्गसे धन पहिले प्राप्त करना चाहिए ऐसा सब कहने लगे हैं। धनके पश्चात् यशकी इच्छा साधारण लोग करते हैं। और धन तथा यश मिलनेके पश्चात् यदि होगया तो सत्यका पालन करनेकी ओर साधारण लोगोंका ख्याल हो रहा है। यहही अधर्म है।

धर्मकी बात यदि देखनी हो तो सत्य पहिला, यश दूसरा, और धन तीसरा है और अधर्मका मार्ग देखना हो तो धन पहिला, यश दूसरा और सत्य तीसरा माना जाता है।

उक्त वाक्यसे धर्मकी रीतिभी ज्ञात हो सकती है। यदि मनुष्य सत्यधर्मके मार्गपर चलना चाहते हैं तो उनको 'सत्य-यश-श्री' इस क्रमका अवलंबन करना उचित है। सब धर्मकी हलचल इसी उद्देशसे होनी उचित है। धर्मका प्रचार करनेवाले लोक तथा समाज यदि अपना मार्ग सचमुच योग्यरीतिसे आक्रमण करना चाहते हैं तो यही एकमात्र मार्ग है।

आशा है कि लोग इस ओर अधिक ख्याल करेंगे।

मित्रताका आदर्श ।

(लेखक—पं. धर्मदेवजी सिद्धान्तालंकार)

दृते दृँह मा मित्रस्य मा चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षन्ताम्
मित्रस्याहं चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे ।
मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे ॥ य. ३६।१८

इस मन्त्रमें मित्रताका आदर्श बताया गया है । मन्त्रके ३ भाग हैं । पहले भागमें यह प्रार्थना की गई है कि मुझे सब प्राणी मित्रकी दृष्टिसे देखें । दूसरे भागमें यह कहा गया है कि मैं सब प्राणियोंको मित्रकी दृष्टिसे देखूं । तीसरे भागमें कहा है कि हम सब आपसमें मित्रकी दृष्टिसे देखें । यदि इन तीनों बातोंका सम्बन्ध विचारा जाए, तो इस मन्त्रसे कई नवीन तथा उत्तम विचार मिलते हैं । सबसे पहले यहां यह कहा गया है, कि हे अविद्यान्धकार नाशक प्रभो ? मुझे तुम वृद्धियुक्त करो । एक व्यक्तिकी वृद्धि तभी हो सकती है, जब उससे सहानुभूति रखनेवाले तथा उसकी सहायता करनेवाले बहुतसे व्यक्ति हों; इस लिये अगली प्रार्थना यह है कि मुझे सब प्राणी मित्रकी दृष्टिसे देखें । केवल इस तरहकी प्रार्थना करनेसे कुछ नहीं बन सकता, जबतक एक व्यक्ति स्वयं दूसरोंके साथ सहानुभूति रखनेवाला न हो । एक ऐसे व्यक्तिसे जो दूसरोंके अप्रियाचरण करनेकी प्रतिक्षण चिन्तामें रहता हो, हम यह आशा नहीं कर सकते, कि केवल यह प्रार्थना करने पर कि सब प्राणी उसे मित्रकी दृष्टिसे देखें वह दूसरोंको अपना मित्र बना लेगा । संस्कृत शब्दोंकी एक बडी विशेषता यह है, कि उनके अन्दर बहुत कुछ भाव गुप्त रहता है । मित्रके अन्दर विशेष गुण क्या होने चाहियें यह मित्र शब्द ही बतला देता है। निरुक्तकार यास्क मुनिने मित्र शब्दकी "प्रमीतेर्मरणात् त्रायते इति मित्रम्" ऐसी व्युत्पत्ति की है । इससे दो भाव स्पष्ट झलकते हैं, प्रथम मृत्यु या शारी-

रिक कष्टसे दूसरेकी रक्षा करना; द्वितीय पापसे दूसरोंको बचाना । दूसरे अर्थका आधार "पाप्मा वै मृत्युः" इस बृहदारण्यकोपनिषत् के वचनपर है । इनमेंसे प्रथमके लिये सहानुभूति और द्वितीयके लिये आत्मिक साहस (Moral courage) की आवश्यकता है । जिसप्रकार बिना सहानुभूतिके यह असम्भव है, कि एक आदमी दूसरेको कष्टसे बचा सके, उसीप्रकार यह भी असम्भव है, कि एक व्यक्ति बिना आत्मिक साहसके पाप या व्यसनसे दूसरोंकी रक्षा कर सके । प्रथम प्रार्थनाका दूसरी प्रार्थनाके साथ कितना घनिष्ठ सम्बन्ध है, यह योगदर्शनके "अहिंसा-प्रतिष्ठायां सर्ववैरत्यागः" इस सूत्रसे स्पष्ट हो जाता है जिसमें बताया है, कि यदि एक व्यक्ति दूसरे प्राणियोंको मित्रकी दृष्टिसे देखें तो हिंसक प्राणी भी उसके मित्र बन जाते हैं । यह बात भी ध्यानमें रखने योग्य है कि यहां मनुष्यमात्रको ही नहीं अपि तु सारे भूतों वा प्राणियोंको मित्रकी दृष्टिसे देखनेका आदेश है जिससे यह स्पष्टतया सिद्ध होता है कि अपना पेट भरनेके लिये बेचारे गरीब जानवरोंपर छुरी चलाना वेदकी आज्ञाके विरुद्ध है । इसमें कोई सन्देह नहीं कि वेद समाजको हानि पहुंचनेवाले लोगोंके वध करनेकी क्षत्रियोंको आज्ञा देता है, किन्तु उनके लिये भी मनमें किसी प्रकारका द्वेषभाव रखना वेदविरुद्ध है । अन्तिम भागमें यह प्रार्थना है कि हम सब आपसमें मित्रकी दृष्टिसे देखें । सब मनुष्य जबतक परस्पर मित्रभावसे बर्तना अपना कर्तव्य नहीं समझें तबतक समाज, देश और जगत्में शान्ति नहीं रह सकती । अतः आवश्यकता इस बातकी है कि प्रत्येक व्यक्ति अपने कर्तव्यको समझे और सहानुभूति तथा आत्मिक साहस (Moral courage) को अपने अन्दर धारण करनेका प्रयत्न करे जिसके बिना सच्ची मित्रता असम्भव है ।

बाबा आदम !

सब सनातन धर्मीय आर्योंका परमपूज्य धर्मग्रंथ वेद है। वेद सबसे प्राचीन धर्मग्रंथ है। इस वेदका आशय लोकोंके अंतःकरणोंतक पहुंचानेकेलिये अनेक महात्माओंके विविध मार्गोंसे प्रयत्न इस समयतक हो चुके हैं। अध्यात्मवादियोंके उपनिषद् ग्रंथ, इतिहासवादियोंके पौराणिक ग्रंथ, यज्ञवादियोंके ब्राह्मणग्रंथ, विज्ञानवादियोंके तांत्रिकग्रंथ आदि अनेक प्रकारके ग्रंथ निर्माण हुए हैं। इन ग्रंथोंके निर्माण कर्ताओंके मनमें शुद्ध भाव यही था, कि इन ग्रंथोंके द्वारा वेदका आशय लोकोंके समझमें आजाय।

पुराणों और इतिहास ग्रंथोंके साथ वेदका यही संबंध है। इसमें कोई संदेह नहीं। मूल पुराणलेखकोंका आशय बडा उच्च था। यदि वही उद्देश अंततक कायम रह जाता तो संसारका बडा उपकार हो सकता था। पुराणलेखकोंका मूल उद्देश देखिए—

एवं जन्मानि कर्माणि ह्यकर्तुरजनस्य च ॥
वर्णयन्ति स्म कवयो वेदगुह्यानि हृत्पते ॥

श्री-भागवत। १।३।३५

भारतव्यपदेशेन ह्याम्नायार्थश्च दर्शितः ॥

श्री-भागवत। १।४।२९

"अजन्मा परमात्माके जन्म और कर्म, जो वेदमें गुप्त हैं, कवि वर्णन करते हैं॥ भारतके कथाओंके मिषसे वेदकाही आशय बताया गया है॥"

इस कथनसे पता लगता है, कि वेदके अंदर जो गुह्य बातें हैं, उनका आविष्कार कथाओंके रूपसे इतिहास और पुराणोंमें किया गया है। इसलिये पुराणके कथाओंका अध्ययन वेदकी रोशनीमें करना उचित है। जो कहते हैं कि, पुराणोंमें मिलावट है, उनको उचित है कि, वे पौराणिक कथाओंका मूल वेदमें ढुंढकर निकालें और अपना पक्ष सिद्ध करें। तथा जो कहते हैं कि सब पुराण जैसे थे वैसेही हैं, उनकोभी उचित है कि, वे अपना पक्ष वेदके आधारसे सिद्ध करें। आज इसी उद्देशसे "बाबा आदम" की कथाका विचार करना है! पुराणग्रंथोंमें ३६ पुराण, ३६ उपपुराण, इतिहास, ब्राह्मणग्रंथोंमें आई हुई विविध गाथाएं, आवेस्ता और गाथा, बायबल, और कुराण आदि ग्रंथ संमिलित हैं।

पवित्र बायबल ग्रंथमें 'बाबा आदम' की कथा निम्न प्रकार लिखी है—

"परमेश्वरने पृथिवी और आकाशको बनाया, तब मैदानका कोई झाड,.........कोई छोटा पेड उगा नहीं था।............और परमेश्वरनें आदमको भूमिकी मिट्टीसे रचा और उसके नथनोंमें जीवन का श्वास फूंक दिया और आदम जीता प्राणी हुआ। परमेश्वरने पूरब ओर एदन देशमें एक वारी लगाई और वहां आदमको............रखा दिया। परमेश्वरने भूमिसे सब वृक्ष जो सुंदर हैं, उगाये और जीवनके वृक्षको बारीके बीचमें ओर.........ज्ञानके वृक्षकोभी लगाया।............परमेश्वरने आदमको एदनकी बारीमें रख दिया कि वह उसमें काम करे और उसकी रक्षा करे।...परमेश्वरने आदमको यह आज्ञा दीई बारीके सब वृक्षोंका फल तू बिना खटके खा सकता है .... पर ज्ञानके वृक्षका फल तू न खाना क्यों कि जिस दिन तू उसका फल खाएगा उसी दिन अवश्य मर जायगा।

"परमेश्वरने कहा कि आदमका अकेला रहना अछा नहीं। ....
परमेश्वरनें उसको भारी नींदमें डाल दिया, जब वह सोगया तब उसने उसकी एक पसुली निकालकर उसकी संती मांस भर दिया। ....

और उस पसुलीको...स्त्री बनादिया। और उसको आदमकेपास लेआया। और आदमने कहा अब यह मेरी हड्डियों में की हड्डी और मेरे मांसमेंका मांस है। सो इसका नाम नारी होगा क्यों कि यह नरमेंसे निकाली है।

(बैबल–उत्पत्ति. २)

"परमेश्वरने जो पशु बनाये थे सबमेंसे सर्प धूर्त था। .... स्त्रीने सर्पसे कहा कि इस बारीके वृक्षोंका फल हम खा सकते हैं परंतु बीचके वृक्षका नहीं, उसको खानेसे और छुनेसे हम मर जायगे। तब सर्पनें स्त्रीसे कहा कि तुम निश्चय न मरोगे। जिस दिन तुम खाओगे उसी दिन तुह्मारीं आंखें खुल जाएंगी और तुम...........परमेश्वरके तुल्य बन जाओगे। तो जब स्त्रीको जानपडा ....तब उसने उसमेंसे तोडकर फल खाया और अपनी पतिको दिया और उसनेभी खाया। तब उन दोनोंकीं आंखें खुलगईं और उनको जानपडा कि हम नंगे हैं।......

(उत्पत्ति अ. ३)

इसप्रकार फल खानेके पश्चात उनको एदनके बागसे निकालकर जमीनपर भेजा गया। उसीकी सब यह संतति है। अब कुराणशरीफ़का वृत्तांत देखीए—

"...........और कहा कि हे आदम! तु और तेरी धर्मपत्नी इस बागमें रहो जो कुछ खाना चाहो खाओ। परंतु इस वृक्षकी ओर न जावो। नहीं तो दुःखित बनजाओगे। परंतु सैताननें उनको मोहित करके स्वर्गीय सुखका अंत कराया। हमने आदामसे कहा कि तूं अब नीचे भूमीपर जाओ, तुमको पृथ्वीपर घर प्राप्त होगा। ....".।

(अल् कुराण अ. २)

उक्त बैबल और कुराणकी कथा एक जैसी ही है जो विस्तारपूर्वक देखना चाहते हैं, वे कुराणशरीफ़् अ. २, ७, १५, ३८ देखें। बैबलमें यह कथा एक स्थानपर है परंतु कुराणशरीफ़में भिन्नभिन्न स्थानपर है। इन दोनों कथाओंमें निम्न बातें हैं—

(१) परमेश्वरनें मिट्टीका आदमी बनाया और नाकमें श्वास फुंककर उसको जीवित किया, (२) उसीके शरीरसे स्त्रीको बनाया (३) सांपको शत्रु बनाया, (४) सांपके उपदेशसे उक्त स्त्रीपुरुषोंनें ज्ञानवृक्षका फल खाया (५) उक्त स्त्रीपुरुषोंको स्वर्गीय बागमें रखा था, परंतु पश्चात् उनको पृथ्वीपर भेज दिया।

इस आशयको ध्यानमें धरके अब श्रीमद्भागवतकी निम्न कथा देखिए—

श्रीमद्भागवतमें पुरंजनकी कथा। (स्कं. ४ अ. २५) एक **पुरंजन** राजा था। उसका एक मित्र 'अविज्ञात' नामक बडा प्रभावशाली था। पुरंजन राजा निवासस्थान ढूंढनेकेलिये भ्रमण करने लगा। पृथ्वीपर जो जो पुर थे उसने सब देखे, परंतु एकभी उसको पसंद न आया। अंतमे "नवद्वारापुरी" उसने पसंद की जिसके बाहिर एक बडा उपवन था। उसमें एक स्त्री रहती थी। उस स्त्रीके दस नौकर थे। और प्रत्येक नौकरके नीचे काम करनेवाले सैंकडो भृत्य थे। उस स्त्रीके संरक्षणकेलिये एक पंचमुखी सांप था। यह स्त्री अपने योग्य पति प्राप्त करनेकी इच्छा कर रही थी। पुरंजनने उस स्त्रीसे पूछा की, यह उपवन किसका है? उस स्त्रीनें उत्तर दिया कि "मुझे पता नहीं," हम सब यहां रहते हैं, इतनाही मुझे पता है। मैं जिस समय सोजाती हूं, उस समय यह सांप इस उद्यानका संरक्षण करता है।' इतना भाषण होनेके पश्चात् उस पुरंजन राजानें उसमें प्रवेश किया और वहां आनंदके साथ सौ वर्ष रहा। इ०।

इस कथामें **पुरंजन** (जीवात्मा), **स्त्री** (बुद्धि), **दस नौकर** (दस इंद्रियां), अनेक **भृत्य** (इंद्रियके अनेक अवयव), **नवद्वारा पुरी** (शरीर), **उद्यान** (विषयवाटिका) **पंचमुखी सांप** (पंचप्राण), **अविज्ञातनामा मित्र** (परमात्मा) ये शब्द रूपकका आशय स्पष्टकर रहे हैं। पाठकोंको अब यह रूपक स्पष्ट हुआही होगा, इसलिये इसकी व्याख्या करनेकी आवश्यकता नहीं। जो पाठक संस्कृत जानते हैं वे श्रीमद्भागवतकी कथा अवश्य देखें। बडी मनोरंजक है।

इस कथाको देखनेसे कुराणशरीफ् और पवित्रबैबलकी कथाका

भावभी सुगम हो जाता है। और जो बातें केवल बैबल और कुराण शरीफ़के पाठसे विदित नहीं होतीं वह सब बातें इस कथासे ज्ञात हो सकती हैं। देखिए—

१	बाबा आदम	आत्मा	पुरंजन राजा
	आदम [आत्मन्]	जीवात्मा	पुरका जनक
२	इश्	ईश [जीव]	राजा इंद्र
३	इश्शा	ईशा [बुद्धि]	सहचारिणी
	हव्वा	उमा	इंद्राणी
४	सर्पः	प्राण	पंचमुखी सांप
५	एदनका बाग	शरीर और भोगके विषय	पुरी और उपवन

अब इसी भावको वेदमें देखना चाहिए। इसलिये निम्न मंत्र देखिए—

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते ॥
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति ॥

ऋ. १।१६४।२०

एक वृक्षपर दो सुपर्ण पक्षी बैठे हैं, उनमें एक फल खाता है और दूसरा केवल प्रकाशता है।' इस मंत्रमें संसाररूपी (१) उपवनका वृक्ष, (२) फल खानेवाला पक्षी और (३) केवल प्रकाशनेवाला उसका मित्र, इन तीनोंका वर्णन है। फल न खानेवाला स्वयं प्रकाशी है, वैसा फलखानेवाला नहीं है। तथा—

यस्मिन्वृक्षे मध्वदः सुपर्णा निविशन्ते सुवते चाधि विश्वे ॥
तस्येदाहुः पिप्पलं स्वाद्वग्रे तन्नोन्नशद्यः पितरं न वेद ॥

ऋ. १।१६४।२२

"जिस विश्ववृक्षके ऊपर मीठा फलखानेवाले अनेक सुपर्ण रहते और प्रसवते हैं उसी वृक्षको वे उत्तम फल देनेवाला समझते हैं। जो इस बातको जानता है उसका नाश नहीं होता, परंतु जो अपने पिताको जानता नहीं, उसका नाश होता है।"

इसीप्रकार प्राणके विषयमेंभी अनेक मंत्र वेदमें हैं। और उनमें प्राण

नित्य जागता हुआ शरीरादिका संरक्षण करता है ऐसा स्पष्ट कहा है। इस विषयमें निम्न मंत्र देखिए—

सप्त ऋषयः प्रतिहिताः शरीरे सप्त रक्षंति सदमप्रमादं सप्तापः॥
स्वपतो लोकमीयुस्तत्र जागृतोऽस्वप्नजौ सत्रसदौ च देवौ॥

यजु. ३४।५५

"प्रत्येक शरीरमें सात ऋषि (सप्त इंद्रियां) हैं। ये सात गलती न करते हुए इस शरीररूपी आश्रमका संरक्षण करते हैं। जब ये सात आत्माके स्थानमें सोनेके समय पहुंचते हैं, उससमय न सोनेवाले दो देव जागते रहते हैं।"

श्वास उच्छ्वास रूपी प्राणही दो देव हैं, जो सदा जागते रहते हैं, यहां शरीरको ऋषिके आश्रमकी उपमा दी है। उद्यानकी अपेक्षा इस उपमामें पवित्रता अधिक है। प्राण सर्पण शक्तिके साथ चलता रहता है, इसलिये उसको सर्प कहा जाता है। इस प्रकार इस कथाकी अन्य बातें भी वेदमें देखीं जा सकतीं हैं। भागवतकी कथामें मूल वैदिकभाव बहुत अंशमें आगया है ओर इसमें शब्दोंकी रचना ऐसी खुबीसे की है कि जिससे वेदके मंत्रोंके साथ उसका मूल संबंध स्पष्ट हो सके।

इसलिये जो पाठक इस कथाका भाव वेदमें देखना चाहते हैं, वे स्वयं इस भागवतकी तथाको अवश्य पढें। जो बातें कुराण और बैबलमें संदिग्ध प्रतीत होतीं हैं, उनका ठीक रूप भागवतमें तथा उसका मूल शुद्ध रूप वेदमें मिलता है। यदि वेदके प्रकाशसे ये सब ग्रंथ पढे जांयगे, तो सब संदेह निवृत्त हो सकता है। इसलिये पाठकोंको उचित है, कि वे इन कथाओंका मूल वेदवाक्य ढूंढनेका यत्न करें जिससे बहुत विरोध दूर होसकेगा॥

विषयसूची.